है। पवन झरोखे से कूद कर अन्दर आता है। पवन सुन्दर, स्वस्थ, स्मितमुख युवक, वदन में हलके आसमानी रंग की जाली पड़ी है, जिसमें इधर-उधर फूलों का केसर लगा है? घुंघुराली अलकों में कलियाँ उलझीं; हाथ में आम की मञ्जरी; गले में धनुष। पवन के प्रवेश करते ही कमरा सुगन्ध से भर जाता है, वह गहरी गहरी साँसें ले रहा है।)

पवन—(स्नेह-मिश्रित स्वर में) चाची! ओ चच्ची!

(छाया पवन को देखकर सहसा काँपने लगती है। पवन अट्टहास कर छाया को डराने के अभिप्राय से अपने दोनों हाथ उसे पकड़ने के लिए फैलाकर उसके चारों ओर घूमने लगता है। छाया भयभीत होकर द्वार की ओर भागती है।)

सन्ध्या—ओ गँवार, ओ धूर्त!—

छाया—(आँगन की ओर दौड़ती हुई) जाती हूँ, जाती हूँ!

सन्ध्या—(आर्द्र स्वर में) अच्छा, छाया! जाओ। तुम दोनों तो एक साथ रह ही नहीं सकते!

छाया—(रुष्ट होकर) धूर्त अन्धड़ का कुपूत! संसार भर के कूड़े की टोकरी ढोनेवाला!

(पेड़ों की आड़ में जाकर ओझल हो जाती है।)

पवन—(सन्ध्या के अंचल-छोर को झकोरता हुआ) थक गया हूँ, चाची! थक कर चूर चूर हो गया हूँ।

सन्ध्या—(स्नेह के उपालम्भ से) थकेगा नहीं तो क्या होगा! एक जगह तेरे पाँव भी रहते हैं? दिन भर धूप में अवारा की तरह फिरता है!

पवन—(हाथ पर हाथ मारकर) आज दिन भर शिकार के पीछे जंगलों में भटकता रहा! जिधर निकला, उसी ओर भयभीत हिरनों के झुंड की तरह ढेर के ढेर पत्तों को मार उड़ाया! वन की भोली-भाली प्रजा डर से थरथर काँप कर पीली पड़ जाती थी! बड़ा आनन्द रहा! मारे प्यास के गला सूख गया तब एक बड़ी-सी झील में कूद पड़ा। लहरों के फनों पर सवार होकर उन्हें नचाया। इस कालीदमन के बाद घण्टों फेन की गोलियाँ बना बनाकर मछलियों को छकाता रहा। जब जी ऊब गया तब बहुत देर तक पके हुए गेहूँ और सरसों के खेतों में जाकर झूलता रहा। अभी घर को लौट रहा था, रास्ते में दक्षिण की ओर, नदी के किनारे, कुछ बादलों के दल, बगुलों की तरह पंख फैलाये कतार बाँधे उड़ रहे थे; उनका पीछा किया। ऐसे छक्के छुड़ाये कि सिर पर पैर रख कर भागते नजर आये! (अट्टहास)

सन्ध्या—तेरा लड़कपन न जाने कब छूटेगा! खेलने-कूदने के सिवा कोई चिन्ता ही नहीं! जा, अब बहुत हुआ, उस पीपल के पेड़ पर जाकर आराम कर! अब कहीं मत जाना।

पवन—पीपल के पेड़ में मैं नहीं सो सकता चाची! नये नये चिकने पत्तों के झूलने में झूलने को जी करता है।

सन्ध्या—पागल कहीं का! जा आम में नये बौर आये हैं, उनकी गंध पीकर तू झूमने लगेगा, बड़ी जल्दी पलकें झँप जायँगी।

पवन—वहाँ भौंरों का जो डर रहता है। गाना क्या आता है, बस हर घड़ी गुनगुनाते रहते हैं। मेरी तरह सीटी बजायें तो जानूँ। मैं बरगद के पेड़ पर जाकर सोता हूँ चाची! (प्रस्थान)

(पवन कभी गाता, कभी सीटी बजाता, कभी ताली देता हुआ आँगन में बट के पेड़ के पास जाकर अदृश्य हो जाता है)

गीत, सारंग, तीन ताल (द्रुतलय)

मर् मर्, सर् सर्, झन् झन्, सन् सन्,
गाता कभी गरजता भीषण,
पवन, प्रभञ्जन,
मेरी चपल उँगुलियों पर चल
लोल लहरियाँ, करती नर्तन
अधर अधर पर धर चल चुम्बन,
बाँह बाँह में भर आलिङ्गन,
मर् मर्०
मेरा चाबुक खा, केशरि-सा
आहत-पन करता गुरु गर्जन,
अट्टहास कर, चपला पर चढ़,
जब मैं नभ में करता विचरण,
(प्रस्थान)

(दूर से उड़ता हुआ सुग्गा आकर गाय की पीठ पर बैठता और पुकारता है)

सुग्गा—अम्मा, अम्मा!

सन्ध्या—(प्रसन्न भाव से दरवाजे के पास खड़ी होकर) आ गया तू? सब कुशल से तो हैं?

(सुग्गा दस साल का लड़का, हरे वस्त्र, गले में लाल रेशमी रूमाल बाँधे, दिन भर के बाद शाम को घर लौट आने की प्रसन्नता में, कुन्द की झाड़ियों पर इधर से उधर फुदकता गरदन मटका मटका कर कहता है)

सुग्गा—आ गया, मैं आ गया।

सन्ध्या—(स्नेहमिश्रित उपालम्भ के साथ) क्यों रे, तुझे घर आने की बड़ी उतावली रहती है न? मुनियाँ को कहाँ छोड़ आया?

(पूर्व-दिशा से पक्षियों के चहकने का स्वर सुनाई पड़ता है)

सुग्गा—वह सुनो, भैया हरियल सबको लिये आ रहे हैं।

सन्ध्या—अच्छा, सबको आ जाने दे। समय भी हो गया। मैं ठाकुर जी के द्वार में दिया जला आती हूँ।

(सन्ध्या भीतर जाती है)

सुग्गा—सत्यं, शिवं, सुन्दरम्, सत्यं, शिवं, सुन्दरम्!

(रटता है)

(सन्ध्या छत पर नीली रेशमी डोरी से टँगे चाँदी के छोटे से डिब्बे को नीचे उतारती, और उसका ढँकना खोल, रस्सी को फिर ऊपर चढ़ा देती है। चमचमाते हुए हीरे की तरह शुक्र का प्रकाश कमरे में फैल जाता है। सन्ध्या घुटनों के बल बैठ, आँखें मूँद, हाथ जोड़, ईश्वर की वन्दना करती है।

बाहर झुण्ड के झुण्ड पक्षी आकर आँगन में बैठकर चहकने लगते हैं। सन्ध्या बाहर आती है। मुनियाँ फुलसुँही, खंजन, चटक आदि उसके चारों ओर पंख फड़फड़ा कर मँड़राने लगते एवं कन्धों, बाँहों और गोद में बैठकर एक साथ पुकारते हैं)

पक्षी—अम्मी, अम्मी!

(मुनियाँ, खंजन, फुलसुँही, कुररी, श्यामा, हरियल, कपोत, कोयल, चटक, नीलकण्ठ, आदि सब रंग-बिरंगे वस्त्रों से भूषित, छोटे-बड़े बालक-बालिकाओं के रूप में स्टेज पर अभिनय करते हैं)

सन्ध्या—(वात्सल्य भाव से) सब बच्चे आ गये? आ गई मुनियाँ? आ गये खंजन? (फुलसुँही के ऊपर हाथ फेरकर) तू भी आ गई फूलकुमारी, मेरी रानी बिटिया। (प्यार करती है।)

फुलसुँही—मैं रानी बिटिया हूँ। सूँघो अम्मा, मेरा मुँह सूँघो। बताओ, किस फूल का पराग है। अच्छा मेरे पंखों को सूँघो—आती है गुलाब की महक?

सन्ध्या—पगली—

गुलदुम—फूल अम्मा से क्यों पूछती है। अम्मा को गन्धमकरन्द की बिलकुल भी पहचान नहीं। आ, मैं बतलाऊँ।

(दोनों उड़कर बेला, चमेली, गुलाब की झाड़ियों के पास जाते हैं)

चटक—(सामने आकर) अम्मी, अम्मी!

सन्ध्या—क्या है रे चिरोंटे! थक गया क्या? बड़ा चंचल, बड़ा नटखट है!

(कुररी की ध्वनि)

"वह कौन? कुररी आ रही है क्या?"

सुग्गा—अम्मा, यह हमेशा पिछड़ जाती है, बड़ी बोदी है।

(आम की डाल पर कोयल कूक उठती, मोर आकर संध्या के पाँवों से लिपटता है)

सन्ध्या—(मोर की पीठ पर हाथ फेरती हुई) अच्छा, सब बच्चे आ गये? आरती का समय टल रहा है। आओ मिलकर आरती गा लो।

(सब पक्षी दो पाँतों में अर्धवृत्ताकार खड़े होकर आरती गाते हैं)

गीत भूपाली, तीन ताल (मध्यलय)

जीवन का श्रम-ताप हरो हे!
सुख-सुखमा के मधुर-स्वर्ण से
सूने जग-गृह-द्वार भरो हे! जी०

लौटे गृह सब श्रमित चराचर,
नीरव तरु-अधरों पर मर्मर,
करुणानत निज कर-पल्लव से
विश्व-नीड प्रच्छाय करो हे! जी०
उदित शुक्र, अब अस्त भानु-बल
स्तब्ध पवन, नत-नयन पद्म-दल,
तन्द्रिल पलकों में निशि के शशि!
सुखद-स्वप्न बनकर विचरो हे! जी०

(आरती समाप्त कर चुकने पर कुछ पक्षी पंखों में मुँह छिपाकर सोने का उपक्रम करते, कुछ अपनी चोंचें बच्चों के मुँह में डालकर खिलाते हैं।)

कोयल—अम्मा, मैं आम की डाल पर सोऊँगी।

(प्रस्थान)

हरियल-नीलकण्ठ—हम पीपल के पेड़ पर सोयेंगे, वहाँ ठण्डी ठण्डी हवा मिलती है।

(प्रस्थान)

चटक-खंजन—हम बाँसों के झुरमुट में जाकर छिप जाते हैं।

(प्रस्थान)

सुग्गा, मुनियाँ आदि—हम तो पिंजड़े में ही सोयेंगे।

(मैना, श्यामा, सुग्गा, लाल, मुनियाँ, अगिन आदि पिंजड़े में सो जाते हैं)

कुररी—मैं भी जाती हूँ, कहीं तुम लोगों पर आसमान न टूट पड़े, हवा में टँग कर उसे रोकती हूँ।

(सब का प्रस्थान)

(सन्ध्या आँगन की चहारदीवारी से सटा हुआ आब-नूस का बड़ा-सा किवाड़ बन्द कर लेती है। अन्धकार के काले परदे में सारा दृश्य ओझल हो जाता है।)

१९३३

❀ ❀ ❀

नूरी

बाबू जयशंकर 'प्रसाद'

"ऐं! तुम कौन?"

"........."

"बोलते नहीं?"

"..............."

"तो मैं बुलाऊँ किसी को—"कहते हुए उसने छोटा सा मुँह खोला ही था कि युवक ने एक हाथ उसके मुँह पर रखकर उसे दूसरे हाथ से दबा लिया। वह विवश होकर चुप हो गई। और भी, आज पहला ही अवसर था जब उसने केसर, कस्तूरी और अम्बर से बसा हुआ यौवन का उद्वेलित आलिंगन पाया था। दूसरे ही क्षण उस कुंज के भीतर छन कर आती हुई चाँदनी में जौहर से भरी कटार चमचमा उठी। उधर किरणें भी पवन के एक झोंके के साथ किसलयों को हटा कर घुस पड़ीं। भयभीत मृग-शावक सी काली आँखें अपनी निरीहता में दया की—प्राणों की भीख माँग रही थीं। युवक का हाथ रुक गया। उसने मुँह पर उँगली रख कर चुप रहने का संकेत किया। नूरी काश्मीर की कली थी। सिकरी के महलों में उसके कोमल चरणों की नृत्य-कला प्रसिद्ध थी। उस कलिका का आमोद-मकरन्द अपनी सीमा में मचल रहा था। उसने समझा, कोई मेरा साहसी प्रेमी है जो महाबली अकबर की आँखमिचौनी—क्रीड़ा के समय पतंग-सा प्राण देने आ गया है। नूरी ने इस कल्पना के सुख में अपने को धन्य समझा और चुप रहने का संकेत पाकर युवक के मधुर अधरों पर अपने अधर रख दिये। युवक भी आत्म-विस्मृत-सा उस सुख में पल भर के लिए तल्लीन हो गया। नूरी ने धीरे से कहा—'यहाँ से जल्द चले जाओ। कल बाँध पर पहले पहर की नौबत बजने के समय मौल-सिरी के नीचे मिलूँगी।'

युवक धीरे धीरे वहाँ से खिसक गया। नूरी शिथिल चरणों से लड़खड़ाती हुई दूसरे कुंज की ओर चली, जैसे

कई प्याले अंगूरी चढ़ा ली हो! उसकी जैसी कितनी ही सुन्दरियाँ अकबर को खोज रही थीं। आकाश का सम्पूर्ण चन्द्र इस खेल को देखकर हँस रहा था। नूरी अब किसी कुंज में घुसने का साहस नहीं रखती थी। नरगिस दूसरे कुंज से निकल कर आ रही थी। उसने नूरी से पूछा—

"क्यों, उधर देख आई?"

"नहीं मुझे तो नहीं मिले।"

"तो फिर चल इधर कामिनी के झाड़ों में देखूँ।"

"तू ही जा, मैं थक गई हूँ।"

नरगिस चली गई। मालती की झुकी हुई डाल की अँधेरी छाया में धड़कते हुए हृदय को हाथों से दबाये नूरी खड़ी थी। पीछे से किसी ने उसकी आँखों को बन्द कर लिया। नूरी की धड़कन और भी बढ़ गई। उसने साहस से कहा—

"मैं पहचान गई।"

'जहाँपनाह' उसके मुँह से निकला ही था कि अकबर ने उसका मुँह बन्द कर लिया और धीरे से उसके कानों में कहा—

"मरियम को बता देना, सुलताना को नहीं; समझी न। मैं उस कुंज में जाता हूँ।"

अकबर के जाने के बाद ही सुलताना वहाँ आई। नूरी उसी की छत्र-छाया में रहती थी। पर अकबर की आज्ञा! उसने दूसरी ओर सुलताना को बहका दिया। मरयिम धीरे धीरे वहाँ आई। वह ईसाई बेगम इस आमोद-प्रमोद से परिचित न थी। तो भी यह मनोरंजन उसे अच्छा लगा। नूरी ने अकबर वाला कुंज उसे बता दिया।

घंटों के बाद जब सब सुन्दरियाँ थक गई थीं तब मरियम का हाथ पकड़े अकबर बाहर आये। उस समय नौबतखाने से मीठी मीठी सोहनी बज रही थी। अकबर ने एक बार नूरी को अच्छी तरह देखा। उसके कपोलों को थपथपा कर उसको पुरस्कार दिया। आँखमिचौनी हो गई!

(२)

सिकरी की झील जैसे लहरा रही है, वैसा ही आन्दोलन नूरी के हृदय में हो रहा है। वसन्त की चाँदनी में उसे भ्रम हुआ कि उसका प्रेमी युवक आया है। उसने चौंक कर देखा, किन्तु कोई नहीं था। मौलसिरी के नीचे बैठे हुए उसे एक घड़ी से अधिक हो गया। जीवन में आज पहले ही वह अभिसार का साहस कर सकी है। भय से उसका मन काँप रहा है। पर लौट जाने का मन नहीं चाहता। उत्कंठा और प्रतीक्षा! कितनी पागल सहेलियाँ हैं! दोनों उसे उलझाने लगीं।

किसी ने पीछे से आकर कहा—मैं आ गया।

नूरी ने घूम कर देखा, लम्बा-सा, गौरवर्ण का युवक उसकी बगल में खड़ा है। वह चाँदनी रात में उसे पहचान गई। उसने कहा—शाहजादा याकूब खाँ?

"हाँ मैं ही हूँ! कहो, तुमने क्यों बुलाया है?"

नूरी सन्नाटे में आ गई। इस प्रश्न में प्रेम की गन्ध भी नहीं थी। वह भी महलों में रह चुकी थी। उसने भी पैंतरा बदल दिया।

"आप वहाँ क्यों गये थे?"

"मैं इसका जवाब न दूँ तो?"

नूरी चुप रही। याकूब खाँ ने कहा—तुम जानना चाहती हो?

"न बताइए।"

"बताऊँ तो मुझे........"

"आप डरते हैं तो न बताइए।"

"अच्छा तो तुम सच बताओ कि कहाँ की रहने वाली हो?"

"मैं काश्मीर में पैदा हुई हूँ।"

याकूब खाँ अब उसके समीप ही बैठ गया। उसने पूछा—कहाँ?

"श्रीनगर के पास ही मेरा घर है।"

"यहाँ क्या करती हो?"

"नाचती हूँ। मेरा नाम नूरी है।"

"काश्मीर जाने को मन नहीं करता?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"वहाँ जाकर क्या करूँगी? सुलतान यूसुफ खाँ ने मेरा घर-बार छीन लिया है। मेरी माँ बेड़ियों में जकड़ी हुई दम तोड़ती होगी या मर गई होगी।"

"मैं कहकर छुड़वा दूँगा। तुम यहाँ से चलो।"

"नहीं मैं यहाँ से नहीं जा सकती। पर शाहजादा साहब, आप वहाँ क्यों गये थे, मैं जान गई।"

"नूरी! तुम जान गई हो तो अच्छी बात है। मैं भी बेड़ियों में पड़ा हूँ। यहाँ अकबर के भयानक चंगुल में छटपटा रहा हूँ। मैं कल रात को उसी के कलेजे में कटार भोंक देने के लिए गया था।"

"शाहंशाह को मारने के लिए?" भय से चौंक कर नूरी ने कहा।

"हाँ नूरी! वहाँ तुम न आ जातीं तो मेरा काम न बिगड़ता! काश्मीर को हड़पने की उसकी......" याकूब रुक कर पीछे देखने लगा। दूर कोई चला जा रहा था। नूरी भी उठ खड़ी हुई। दोनों और नीचे झील की ओर उतर गये। जल के किनारे बैठकर नूरी ने कहा—अब ऐसा न करना।

"क्यों न करूँ? मुझे काश्मीर से बढ़कर और कौन प्यारा है? मैं उसके लिए क्या नहीं कर सकता? यह कहकर याकूब ने लम्बी साँस ली। उसका सुन्दर मुख वेदना से विकीर्ण हो गया। नूरी ने देखा, वह प्यार की प्रतिमा है। उसके हृदय में प्रेम-लीला करने की वासना बलवती हो चली थी। फिर वह एकान्त और वसन्त की नशीली रात! उसने कहा—आप चाहे काश्मीर को प्यार करते हों, पर कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो आपको प्यार करते हों।

"पागल! मेरे सामने एक ही तसवीर है। फूलों से भरी, फलों से लदी हुई, सिन्ध और झेलम की घाटियों की हरियाली! मैं इस प्यार को छोड़कर दूसरी ओर ....?"

"चुप रहिए शाहजादा साहब! आप धीमे से नहीं बोल सकते तो चुप रहिए।"

यह कह कर नूरी ने एक बार फिर पीछे की ओर देखा। वह चंचल हो रही थी, मानो आज ही उसके वसन्त-पूर्ण यौवन की सार्थकता है! और वह विद्रोही युवक सम्राट् अकबर के प्राण लेने और अपने प्राण देने पर तुला है। कहते हैं कि तपस्वी को डिगाने के लिए स्वर्ग की अप्सरायें आती हैं। आज नूरी अप्सरा बन रही थी। उसने कहा—तो मुझे काश्मीर ले चलिएगा? याकूब के समीप और सट कर भयभीत-सी होकर वह बोली—बोलिए, मुझे ले चलिएगा। मैं भी इन सुनहरी बेड़ियों को तोड़ना चाहती हूँ।

"तुम मुझको प्यार करती हो नूरी?"

"दोनों लोकों से बढ़कर!" नूरी उन्मादिनी हो रही थी।

"पर मुझे तो अभी एक बार फिर वही करना है जिसके लिए तुम मना करती हो। बच जाऊँगा तो देखा जायगा!" यह कहकर याकूब ने उसका हाथ पकड़ लिया। नूरी नीचे से ऊपर तक थरथराने लगी। उसने अपना सुन्दर मुख याकूब के कन्धे पर रख कर कहा—नहीं अब ऐसा न करो, तुमको मेरी कसम!

सहसा चौंक कर युवक फुर्ती से उठ खड़ा हुआ। और नूरी जब तक सँभली तब तक याकूब वहाँ न था। अभी नूरी दो पग भी बढ़ने न पाई थी कि माहम तातारी का कठोर हाथ उसके कन्धों पर आ पहुँचा। तातारी ने कहा—सुलताना तुमको कब से खोज रही हैं?

(३)

सुलताना बेगम और शाहंशाह चौसर खेल रहे थे। उधर पचीसी के मैदान में सुन्दरियाँ गोटें बनकर चाल चल रही थीं। नौबतखाने से पहले पहर की सुरीली शहनाई बज रही थी। नगाड़े पर अकबर की बाँधी हुई गति में लकड़ी थिरक रही थी, जिसकी धुन में अकबर चाल भूल गये। उनकी गोट पिट गई।

पिटी हुई गोट दूसरी न थी, वही थी नूरी। उस दिन की थपकियों ने उसको साहसी बना दिया था। वह मचलती हुई बिसात के बाहर तिबारी में चली आई। पाँसे हाथ में लिए हुए अकबर उसकी ओर देखने लगे। नूरी ने अल्हड़पन से कहा—तो मैं मर गई?

"तू जीती रह, मरेगी क्यों?" फिर दक्षिण नायक की तरह उसका मनोरंजन करने में चतुर अकबर ने सुलताना की ओर देखकर कहा—इसका नाम क्या है? मन में सोच रहे थे उस रात की आँखमिचौनीवाली घटना!

"यह काश्मीर की रहने वाली है। इसका नाम नूरी है। बहुत अच्छा नाचती है।" सुलताना ने कहा।

"मैंने तो कभी नहीं देखा।"

"तो देखिए न।"

"नूरी! तू इसी शहनाई की गत पर नाच सकेगी?"

"क्यों नहीं जहाँपनाह!"

गोटें अपने अपने घर में जहाँ की तहाँ बैठी रहीं। नूरी का वासना और उन्माद से भरा हुआ नृत्य आरम्भ हुआ। उसके नूपुर घुले हुए बोल रहे थे। वह नाचने लगी जैसे जलतरंग। वागीश्वरी के विलम्बित स्वरों में अंगों के अनेक मरोड़ों के बाद जब कभी वह चुन चुन कर एक-दो घुंघुरू बजा देती तब अकबर 'वाह! वाह!' कह उठता। घड़ी भर नाचने के बाद जब शहनाई बन्द हुई तब अकबर ने उसे बुलाकर कहा—नूरी! तू कुछ चाहती है?

"नहीं जहाँपनाह!"

"कुछ भी?"

"मैं अपनी मा को देखना चाहती हूँ। छुट्टी मिले तो!" सिर नीचे किये हुए नूरी ने कहा।

"दुत्—और कुछ नहीं?"

"और कुछ नहीं।"

"अच्छा तो जब मैं काबुल चलने लगूँगा तब तू भी वहाँ चल सकेगी।"

फिर गोटें चलने लगीं। खेल होने लगा। सुलताना और शाहंशाह दोनों ही इस चिन्ता में थे कि दूसरा हारे। यही तो बात है। संसार चाहता है कि तुम खेलो, पर सदा तुम हारते रहो। नूरी फिर गोट बन गई थी। अब की वही फिर पिटी। उसने कहा—मैं मर गई।

अकबर ने कहा—तू अलग जा बैठ। छुट्टी पाते ही थकी हुई नूरी पचीसी के समीप अमराई में जा घुसी। अभी वह नाचने की थकावट से अँगड़ाई ले रही थी कि सहसा याकूब ने आकर उसे पकड़ लिया। उसके शिथिल—सुकुमार अंगों को दबाकर उसने कहा—नूरी! मैं तुम्हारे प्यार को लौटा देने के लिए आया हूँ।

व्याकुल होकर नूरी ने कहा—नहीं, नहीं, ऐसा न करो।

"मैं आज मरने-मारने पर तुला हूँ।"

"तो क्या फिर तुम आज उसी काम के लिए....?"

"हाँ नूरी!"

"नहीं, शाहजादा याकूब! ऐसा न करो। मुझे आज शाहंशाह ने काश्मीर जाने की छुट्टी दे दी है। मैं तुम्हारे साथ भी चल सकती हूँ।"

"पर मैं वहाँ न जाऊँगा। नूरी! मुझे भूल जाओ।"

नूरी उसे अपने हाथों में जकड़े थी। किन्तु याकूब का देश-प्रेम उसकी प्रतिज्ञा की पूर्त्ति माँग रहा था। याकूब ने कहा—नूरी! अकबर सिर झुकाने से मान जाय सो नहीं। वह तो झुके हुए सिर पर भी चढ़ बैठना चाहता है। मुझे छुट्टी दो। मैं यही सोचकर सुख से मर सकूँगा कि कोई मुझे प्यार करता है।

नूरी सिसक कर रोने लगी। याकूब का कन्धा उसकी आँसुओं की धारा से भींगने लगा। अपनी कठोर भावनाओं से उन्मत्त युवक और विद्रोही शाहजादा ने बल-पूर्वक अभी अपने को रमणी के बाहुपाश से छुड़ाया ही था कि चार तातारी दासियों ने अमराई के अन्धकार से निकलकर दोनों को पकड़ लिया।

अकबर की बिसात अभी बिछी थी। पाँसे अकबर के हाथ में थे। दोनों अपराधी सामने लाये गये। अकबर ने आश्चर्य से पूछा—याकूब खाँ?

याकूब के नत-मस्तक की रेखायें ऐंठी जा रही थीं। वह चुप था। फिर नूरी की ओर देखकर शाहंशाह ने कहा—तो इसीलिए तू काश्मीर जाने की छुट्टी माँग रही थी?

वह भी चुप।

"याकूब! तुम्हारा यह लड़कपन यूसुफ खाँ भी न सहते, लेकिन मैं तुम्हें छोड़ देता हूँ। जाने की तैयारी करो। मैं काबुल से लौटकर काश्मीर आऊँगा।"

संकेत पाते ही तातारियाँ याकूब को ले चलीं। नूरी खड़ी रही। अकबर ने उसकी ओर देखकर कहा—इसे बुर्ज में ले जाओ।

नूरी बुर्ज के तहखाने में बन्दिनी हुई।

(४)

अट्ठारह बरस बाद !

जब अकबर की नवरत्न सभा उजड़ चुकी थी, उसके प्रताप की ज्योति आने वाले अन्तिम दिन की उदास और धुँधली छाया में विलीन हो रही थी, हिन्दू और मुस्लिम-एकता का उत्साह शीतल हो रहा था, तब अकबर को अपने पुत्र सलीम से भी भय उत्पन्न हुआ। सलीम ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की थी, इसी लिए पिता-पुत्र में मेल होने पर भी आगरा में रहने के लिए सलीम को जगह नहीं थी। उसने दुखी होकर अपनी जन्मभूमि में रहने की आज्ञा माँगी।

सलीम फतहपुर सीकरी आया। मुगल-साम्राज्य का वह अलौकिक इन्द्रजाल ! अकबर का यौवन-निशा का सुनहरा स्वप्न—सिकरी का महल—पथरीली चट्टानों पर बिखरा पड़ा था ! इतना आकस्मिक उत्थान और पतन ! जहाँ एक विश्वजनीन धर्म की उत्पत्ति की सूचना हुई, जहाँ उस धर्मान्धता के युग में एक छत के नीचे ईसाई, पारसी, जैन, इस्लाम और हिन्दू आदि धर्मों पर वाद-विवाद हो रहा था, जहाँ सन्त सलीम की समाधि थी, जहाँ शाह सलीम का जन्म हुआ था, वहीं अपनी अपूर्णता और खंडहरों में अस्त-व्यस्त सीकरी का महल अकबर के जीवन-काल में ही, निर्वासिता सुन्दरी की तरह दया का पात्र, शृंगार-विहीन और उजड़ा पड़ा था ! अभी तक अकबर के शून्य शयन-मंदिर में विक्रमादित्य के नवरत्नों का छाया-पूर्ण अभिनय चल रहा था। अभी तक सराय में कोई यात्री सन्त की समाधि का दर्शन करने को आता ही रहता ! अभी तक बुर्जों के तहखानों में कैदियों का अभाव न था !

सीकरी की दशा देखकर सलीम का हृदय व्यथित हो उठा ! अपूर्ण शिल्प बिलख रहे थे। गिरे हुए कँगूरे चरणों में लोट रहे थे। अपनी माता के महल में जाकर सलीम भर पेट रोया। वहाँ जो इने-गिने दास-दासियाँ और उनके दारोगे बच रहे थे, भिखमँगों की-सी दशा में फटे चीथड़ों में उसके सामने आये। सब समाधि के लंगरखाने से भोजन पाते थे। सलीम ने समाधि का दर्शन करके पहली आज्ञा दी कि तहखानों में जितने बन्दी हैं, सब छोड़ दिये जायँ। सलीम को मालूम था कि यहाँ कोई राजनैतिक बन्दी नहीं है। दुर्गन्ध से सने हुए कितने ही नर-कंकाल संत सलीम की समाधि पर आकर प्रसन्नता से हिचकी लेने लगे और युवराज सलीम के चरणों को चूमने लगे।

उन्हीं में से एक नूरी भी थी। उसका यौवन कारागार की कठिनाइयों से कुचल गया था। सौन्दर्य अपने दो-चार रेखा-चिह्न छोड़कर समय के पंखों पर बैठकर उड़ गया था !

सब लोगों को जीविका बँटने लगी। लंगरखाने का नया प्रबन्ध हुआ। उसमें से नूरी को सराय में आये हुए यात्रियों को भोजन देने का कार्य मिला।

वैशाख की चाँदनी थी। झील के किनारे मौलसिरी के नीचे कौवालों का जमघट था। लोग मस्ती में झूम झूमकर गा रहे थे।

"मैंने अपने प्रियतम को देखा था।

"वह सौन्दर्य, मदिरा की तरह नशीला, चाँदनी सा उज्ज्वल, तरंगों-सा यौवन-पूर्ण और अपनी हँसी सा निर्मल था।

"किन्तु हलाहल भरी उसकी अपांगधारा ! आह निर्दय !

"मरण और जीवन का रहस्य उन संकेतों में छिपा था।

"आज भी न जाने क्यों भूलने में असमर्थ हूँ।

"कुंजों में फूलों के झुरमुट में तुम छिप सकोगे। तुम्हारा वह चिर विकासमय सौन्दर्य ! वह दिगन्तव्यापी सौरभ ! तुमको छिपने देगा ?

"मेरी विकलता को देखकर प्रसन्न होने वाले ! मैं बलिहारी !!"

नूरी वहीं खड़ी होकर सुन रही थी। वह कौवालों के लिए भोजन लिवा कर आई थी। गाढ़े का पायजामा और कुर्ता, उस पर गाढ़े की ओढ़नी। उदास और दयनीय मुख पर निरीहता की शान्ति ! नूरी में विचित्र परिवर्त्तन था। उसका हृदय अपनी विवश पराधीनता भोगते भोगते शीतल और भगवान् की करुणा का अवलम्बी बन गया था। जब सन्त सलीम की समाधि पर वह बैठकर भगवान्

की प्रार्थना करती थी तब उसके हृदय में किसी प्रकार की सांसारिक वासना या अभाव-अभियोग का योग न रहता।

आज न जाने क्यों इस संगीत ने उसकी सोई हुई मनोवृत्ति को जगा दिया। वही मौलसिरी का वृक्ष था। संगीत का वह अर्थ चाहे किसी अज्ञात लोक की परम सीमा तक पहुँचता हो, किन्तु आज तो नूरी अपने संकेत-स्थल की वही घटना स्मरण कर रही थी, जिसमें एक सुन्दर युवक से अपने हृदय की बातों के खोल देने का रहस्य था।

वह काश्मीर का शाहजादा आज कहाँ होगा? नूरी ने चंचल होकर वहीं थालों को रखवा दिया और स्वयं धीरे-धीरे अपने उत्तेजित हृदय को दबाये हुए सन्त की समाधि की ओर चल पड़ी।

संगमर्मर की जालियों से टिक कर वह बैठ गई। सामने चन्द्रमा की किरणों का समारोह था। वह ध्यान में निमग्न थी। उसकी निश्चय तन्मयता के सुख को नष्ट करते हुए किसी ने कहा—नूरी! क्या अभी सराय में खाना न जायगा?

वह सावधान होकर उठ खड़ी हुई। लंगरखाने से रोटियों का थाल लेकर सराय की ओर चल पड़ी। सराय के फाटक पर पहुँच कर वह निराश्रित भूखों को खोज खोज कर रोटियाँ देने लगी।

एक कोठरी के समीप पहुँच कर उसने देखा कि एक युवक टूटी हुई खाट पर पड़ा कराह रहा है। उसने पूछा—क्या है? भाई, तुम बीमार हो क्या? मैं तुम्हारे लिए कुछ कर सकती हूँ तो बताओ।

"बहुत कुछ"—टूटे स्वर से युवक ने कहा।

नूरी भीतर चली गई। उसने पूछा—क्या है कहिए?

"पास में पैसा न होने से ये लोग मेरी खोज नहीं लेते। आज सवेरे से मैंने जल नहीं पिया। पैर इतने दुख रहे हैं कि मैं उठ नहीं सकता।"

"कुछ खाया भी न होगा।"

"कल रात को यहाँ पहुँचने पर थोड़ा-सा खा लिया था। पैदल चलने से पैर सूज आये हैं। तब से यों ही पड़ा हूँ।"

नूरी थाल रख कर बाहर चली गई। पानी लेकर आई। उसने कहा—

"लो, अब उठकर कुछ रोटियाँ खाकर पानी पी लो।"

युवक उठ बैठा। कुछ अन्न-जल पेट में जाने के बाद जैसे उसे चेतना आ गई। उसने पूछा—तुम कौन हो?

"मैं लंगरखाने से रोटियाँ बाँटती हूँ। मेरा नाम नूरी है। जब तक तुम्हारी पीड़ा अच्छी न होगी मैं तुम्हारी सेवा करूँगी। रोटियाँ पहुँचाऊँगी! जल रख जाऊँगी। घबराओ नहीं। यह मालिक सबको देखता है।"

युवक की विवर्ण आँखें प्रार्थना में ऊपर की ओर उठ गईं। फिर दीर्घ निःश्वास लेकर उसने पूछा—क्या नाम बतलाया? नूरी न?

"हाँ, वही तो!"

"अच्छा, तुम यहाँ महलों में भी जाती होगी।"

"महल! हाँ, महलों की दीवारें तो खड़ी हैं।"

"तब तुम नहीं जानती होगी। उसका भी नाम नूरी था! वह काश्मीर की रहने वाली थी।"

"उससे आपको क्या काम है?" मन-ही-मन काँप कर नूरी ने पूछा।

"मिले तो कह देना कि एक अभागे ने तुम्हारे प्यार को ठुकरा दिया था। वह काश्मीर का शाहजादा था। पर अब तो भिखमँगे से भी......" कहते कहते उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

नूरी ने उसके आँसू पोंछकर पूछा—क्या अब भी उससे मिलने का मन करता है?

वह सिसक कर कहने लगा—मेरा नाम याकूब खाँ है। मैंने अकबर के सामने तलवार उठाई और लड़ा भी। जो कुछ मुझसे हो सकता था वह काश्मीर के लिए मैंने किया। इसके बाद बिहार के भयानक तहखाने में बेड़ियों में जकड़ा हुआ कितने दिनों तक पड़ा रहा। सुना है कि सुलतान सलीम ने वहाँ के अभागों को फिर से धूप देखने के लिए छोड़ दिया है। मैं वहीं से ठोकरें खाता हुआ चला आ रहा हूँ। हथकड़ियों से छूटने पर किसी अपने प्यार करने वाले को देखा चाहता था। इसी से सिकरी चला आया। देखता हूँ कि मुझे वह भी न मिलेगा।

याकूब अपनी उखड़ी हुई साँसों को सँभालने लगा था और नूरी के मन में विगत काल की घटना, अपने प्रेम-समर्पण का उत्साह, फिर उस मनस्वी युवक की अवहेलना सजीव हो उठी।

आज जीवन का क्या रूप होता? आशा भरी संसार-यात्रा किस सुन्दर विश्राम-भवन में पहुँचाती? अब तक संसार के कितने सुन्दर रहस्य फूलों की तरह अपनी पँखुड़ियाँ खोल चुके होते? अब प्रेम करने का दिन तो नहीं रहा! हृदय में इतना प्यार कहाँ रहा जो दूँगी, जिससे यह ठूँठ हरा हो जायगा। नहीं, नूरी ने मोह का जाल छिन्न कर दिया है। वह अब उसमें न पड़ेगी। तो भी इस दयनीय मनुष्य की सेवा! किन्तु यह क्या! याकूब हिचकियाँ ले रहा था। उसकी पुकार का संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। निर्मम हृदय नूरी ने विलम्ब कर दिया। वह विचार करने लगी थी और याकूब को इतना अवसर नहीं था!

नूरी उसका सिर हाथों पर लेकर उसे लिटाने लगी। साथ ही अभागे याकूब के खुले हुए प्यासे मुँह में नूरी की आँखों के आँसू टपाटप गिरने लगे!

१९३३

❀ ❀ ❀

भग्न हृदय

श्री चतुरसेन शास्त्री

(१)

इलाहाबाद में एक बहुत ही जरूरी केस था। इसके लिए मैं लखनऊ से इलाहाबाद आया। सर्दी के दिन थे। खूब कड़ाके की सर्दी थी। मैं गाड़ी में कम्बल लपेटे चुपचाप पड़ा था। ज्योंही गाड़ी प्रयाग स्टेशन पर रुकी, एक लकड़ी के समान सूखा और सफेद हाथ आगे बढ़ा। उसमें गीता की एक छोटी-सी पोथी थी। एक कम्पित करुणापूर्ण वाक्य कान में पड़ा—"श्रीमान्, क्या आप गीता की एक पोथी मोल लेने की उदारता दिखावेंगे? केवल तीन पैसे में। इन पैसों का अच्छे से अच्छा उपयोग होगा। और मुझे आशा है, इस छोटी सी पुस्तक का भी।"

मैंने आँख उठाकर देखा। एक जीर्ण-शीर्ण अकाल-पालित खण्डित पुरुष सम्मुख खड़ा था। आँखें सिर में धँस गई थीं, दाढ़ी और मूँछों के बाल बढ़कर घिनौने हो गये थे। गाल पिचक कर मानो खो गये थे। चेहरे की हड्डियाँ निकल आई थीं। रंग बिलकुल मुर्दे के समान था। सिर पर एक मैला ऊनी चिथड़ा लपेटा हुआ था। बदन पर पट्टू का एक पुराना कोट था, जिसमें असंख्य छेद थे, और वह कफ और गले के स्थानों पर मैल से काँच की भाँति चमक रहा था। उसके पैर नंगे थे। वे धूल से आवृत थे। बड़ी बड़ी बिवाइयाँ फट रही थीं। धोती के नाम पर मिट्टी के रंग का एक पुराना तहमद बँधा था। क्षण भर में मैंने उस व्यक्ति को सिर से पैर तक देखा। हठात् उसके चेहरे पर जाकर मेरी आँखें रुक गईं, और दूसरे क्षण ही मैंने उसे पहचान लिया। मैंने आश्चर्य-चकित होकर कहा—अरे! आप?

मेरा शब्द सुनते ही वह चौंक पड़ा, हर्ष और उल्लास से उसके मुख पर हजारों सिकुड़नें पड़ गईं—उसके दाँत सब गिर गये थे। उसने उसी पोपले मुख से हर्षातिरेक से गद्गद् होकर कहा—ओहो, आप हैं?

मैंने लपक कर उसका हाथ दोनों हाथों में लेकर दबाया। पुस्तक उसके हाथ से छूट पड़ी। आनन्द से उसकी आँखों में आँसू आ गये। उसने कम्पित कण्ठ से कहा—मित्र, कितने दिन में मिले? तीस वर्ष से कम न हुए होंगे। कहो कैसे हो।

मैं तो बोल ही न सका। मेरा बाल्य-सखा, आनन्द और सौन्दर्य का प्रतिरूप, लाखों की सम्पदा का स्वामी, जो अचानक ही घर से चला गया था और जिसे सभी

ने मृतक समझ लिया था, आज यहाँ इस जीर्ण-शीर्ण वेश में कैसे अचानक मिल गया!

मैंने कहा—आप, इस वेश में!

वह एक विषादपूर्ण हँसी हँसा और सेकेंड क्लास की सुखद सीट की ओर इशारा करके कहा—और आप इस वेश में!

मेरे होठ काँपने लगे। मैं करूँ क्या? तीस वर्ष के बाद जिस मृतक समझे हुए मित्र का ऐसा हठात् दर्शन हुआ उससे इस अल्पकाल में क्या क्या बातें की जायँ?

गाड़ी ने सीटी दी। मैंने व्याकुल होकर और भी जोर से उसका हाथ पकड़ लिया। वह मुस्कुराया—उसने कुछ आतुर स्वर से कहा—गाड़ी जा रही है। आप कहाँ जा रहे हैं?

"मैं शायद इलाहाबाद में कुछ दिन ठहरूँ। आप कहाँ ठहरे हैं?" उसने पता बता दिया। गाड़ी चल दी। धीरे-धीरे उसका हाथ छूट गया। वह प्लेटफार्म पर खड़ा तब तक चुपचाप देखता रहा जब तक कि गाड़ी आँखों से ओझल नहीं हो गई।

(२)

केस बहुत सीरियस था। मुझे पन्द्रह-बीस दिन प्रयाग में रुकना पड़ा। दूसरे ही दिन मैंने पर्चा देकर नौकर को भेजा। नौकर से पर्चा लेकर उसने कुछ भी जवाब नहीं दिया। वह नहीं आया, नौकर वापस लौट आया। दूसरे दिन फिर नौकर भेजा। सब सन्देश सुनकर उसने जवाब दिया—अच्छा। पर वह नहीं आया। दो दिन के बाद मैंने गाड़ी भेजी और कह दिया कि साथ लिवा आना। उसने 'अभी नहीं' कह कर गाड़ी लौटा दी। अगले दिन मैंने अपने पुत्र को गाड़ी लेकर भेजा और कड़ी हिदायत कर दी कि साथ ही ले आना। मगर वह भी लौट आया। वह साथ नहीं आया।

विवश एक सन्ध्या को मैं स्वयं ही उसके स्थान पर पहुँचा। वह एक चटाई पर बैठा, दिये के धुँधले प्रकाश में अपना कोई फटा वस्त्र सी रहा था। देखते ही हर्षातिरेक से चिल्ला उठा—आओ मित्र! यह कह कर वह मुझसे लिपट गया। स्वस्थ होने पर बैठने पर भी उसने अपनी कैफियत न दी। मैं मन ही मन क्रुद्ध हो रहा था। इस न आने का क्या मतलब है? क्या घंमड? परन्तु इस अटपटे प्रेम को देखकर वह भाव ही नष्ट हो गया।

मैंने कहा—आपको मैंने कई बार बुलाया। आप क्यों नहीं आये?

उसने हँसकर कहा—मित्र, उस दिन रेल में मैंने आपको जी भरकर देख लिया था। मैं समझ गया कि आपका जीवन सुखी और सफल है, और आपने भी मुझे देख ही लिया कि मैं जैसा हूँ वैसा हूँ। अब और मिलकर क्या होगा? आपके विषय में मेरी चिन्ता तो नष्ट हो गई। आप मेरी चिन्ता करें, इसका समय ही नहीं रहा। इसलिए मिलना मैंने आवश्यक नहीं समझा। आप इससे नाराज न होना।

मैं कुछ उत्तर ही न दे सका। एक बार चारों तरफ उस अँधेरी और घृणित कोठरी में मैंने दृष्टि डाली। उसने नम्रता से कहा—यहाँ बैठने में कष्ट हो तो चलो बाहर चल बैठें।

मैंने कहा—नहीं मित्र, यहाँ बैठने में कष्ट नहीं है। पर आपको इस वेश में और इस स्थान में देखने में कष्ट होता है। यहाँ आप कब से रहते हैं?

"इक्कीस बरस से।"

"इसी नरक-कुण्ड में?"

"हाँ।" यह संक्षिप्त उत्तर देकर वह मुस्कराता हुआ मेरी ओर देखता रहा। कुछ ठहर कर उसने कहा—क्या आपने कोई कोठी-ओठी बनवा ली है?

मैं लज्जित हुआ। और केवल सिर हिलाकर ही स्वीकृति दी। उसने फिर बच्चों का, उनकी शिक्षा का, आय और व्यय का गरज दुनिया भर का हाल पूँछ डाला। सब के बाद उसने हँसकर कहा—मैंने तो पहले ही समझ लिया था कि आपका जीवन सुखी और सफल है। कहो मेरा अनुमान क्या गलत था।

मैंने उसकी बात का जवाब न देकर कहा—मगर आपने अपनी यह क्या दुर्दशा बनाई है?

उसने अत्यन्त प्रेम और आग्रह से हाथ पकड़कर धीमे और विश्वस्त स्वर से कहा—मित्र, यह सब तुम्हारे ही कारण तो! उसने मुस्कुरा दिया।

"मेरे कारण?"

"हाँ।"

"यह क्या कहते हो?"

"कहलाते हो तभी कहता हूँ। मैं तो चाहता था, न कहूँ। अब न कहूँगा।" वह फिर हँसा।

परन्तु मैंने देखा कि वेदना उसकी आँखों में झलक आई है। उसका पीला चेहरा और भी सफेद पड़ गया। चेहरा जैसे काँपने लगा हो। वह हास्य कुछ भयानक-सा दीखने लगा। मैंने कहा—मित्र, सब खोलकर कहो! असल बात क्या है? मैं कहाँ तक आपकी इस दुर्दशा का कारण हो सकता हूँ? यदि यही बात है तो मैं इसका प्रतीकार करूँगा।

"अच्छी बात है।" उसने व्यंग्य के स्वर में कहा। फिर स्नेह से मेरा हाथ पकड़ लिया। मुझे प्रतीत हुआ कि उसका हृदय रुदन कर रहा है। मैंने कहा—कहिए।

"कहता हूँ। पर मेरे परम प्यारे मित्र, मुझसे नाराज न होना, न मन में कुछ दुर्भाव ही पैदा करना। मैं अपाहिज बूढ़ा आदि तुम्हारे कोप और प्रेम दोनों का ही भाजन होने योग्य नहीं—मैं केवल दया और क्षमा का ही पात्र हूँ।

मैं चुपचाप सुनता रहा—मैं समझ ही न सका कि वह क्या कहा चाहता है।

उसने हठात् कहा—क्या विमला ने कभी मेरा जिक्र आपसे किया है?

"कभी नहीं।" वह यह सुनकर अप्रतिभ हुआ।

"कभी किसी प्रकार की चर्चा, जिसमें मेरा उल्लेख हो?"

"नहीं।" मेरे हृदय में उत्तेजना होने लगी। और मैंने तीखी दृष्टि से उसे घूरकर देखा।

उसके चेहरे पर से मुस्कुराहट उड़ गई, मानो वह कुछ कहना चाहता था, पर कह न सका। मैंने कहा—कहिए।

"मित्र, मुझे कुछ सन्देह था। वह मिट गया।"

मैंने कहा—खैर, अपनी बात तो कहिए।

"कहता हूँ। मैं विमला को प्यार करता हूँ।" टप टप कर उसकी आँखों से दो आँसू गिर गये।

मेरे हृदय में मानो आग लग गई? मैंने कठोर स्वर से कहा—तुम?

उसने मेरी आँखों से आँखें मिलाईं और कहा—हाँ, पर उसके साथ आपका विवाह होने के पहले से ही। क्या आपको याद है कि जब तुम उसे पढ़ाया करते थे और मैं उसके लिए फूलों की चोटी गूँथा करता था, तुम उससे नाराज होते और मैं उसके लिए क्षमा माँगता था? वह आपसे रूठती थी तब मैं उसे मनाया करता था। उस बात को आज चालीस वर्ष बीत गये, पर मैं एक झलक भी एक क्षण को नहीं भूला। आप भूल गये!

मेरा मन कुछ और ही भाँति का हो रहा था। मैंने कहा—आप-जैसे सीधे-सादे सरल व्यक्ति भी ऐसे कुटिल हो सकते हैं, ऐसी मुझे आशा नहीं थी।

"आपको किससे कैसी आशा थी, इससे मुझे क्या वास्ता?" उसकी आँखों में कुछ कठोरता प्रतीत हुई। उसने फिर कहा—मैंने विमला को सदा अपने प्राणों और जीवन से भी अधिक प्यार किया है। जब उसके पिता ने मुझसे उसका विवाह पक्का कर दिया तब मेरे आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। मैंने समझा, मेरा जीवन धन्य हुआ। पर विवाह के कुछ ही पूर्व मैंने विमला से साक्षात् किया और पूछा कि विमला, वह दिन कैसा सुखकर होगा जब हम दोनों संयुक्त होंगे। यह सुनकर वह रोने लगी। उसके पूर्व वह मेरे सामने सदा हँसती थी, मेरे उपहार आनन्द से ग्रहण करती थी। इस बार उसका रोना सुनकर मुझे दुःख और आश्चर्य हुआ। मैंने उसका हाथ पकड़कर कहा—रोती क्यों हो? ऐसा कौन-सा दुःख है?

आह, इसके जवाब में उसने जो कुछ कहा उसे न कहना ही अच्छा है। उसी ने मेरी यह दशा बनाई। उस दिन मैंने जाना कि वह मुझे नहीं, तुम्हें चाहती है। वह मेरी जगह तुमसे विवाह करके सुखी होगी। विमला को दुखी करना मुझे अभीष्ट न था। मैं चुपचाप वहाँ से अज्ञातवास को चला आया। विमला का विवाह फिर तुम्हारे साथ हो गया। मैं विमला को प्यार करता हूँ। मेरे इस प्यार में जहाँ और जिस भाँति रहने में बाधा न पड़े वहीं उसी भाँति रह रहा हूँ। मेरा प्यार न विमला को दुख देता है, न आपको।

उसके होठ काँपे और टपटप गर्म गर्म आँसू उसकी आँखों से गिर गये। मेरे हृदय में चोट लगी। मैंने कहा—उसे फिर देखने नहीं गये?

"एक बार गया था, जब प्रतिमा का जन्म हुआ था। प्रतिमा को देखने की बड़ी लालसा थी। मैं आपके घर गया भी, परन्तु आपसे याचना न कर सका। चोरी से देखना मैंने चाहा नहीं, मैं चला आया।"

"आपकी सम्पत्ति क्या हुई? क्या वह सब नष्ट हो गई?"

"नहीं मित्र। जब मैं प्रतिमा को देखने गया था तभी मैंने अपनी सब सम्पत्ति बेचकर रुपया इकट्ठा कर लिया था।"

"वह रुपया कहाँ है?"

"सब बेच-बाच कर ८५ हजार रुपया हुआ था। वह इम्पीरियल बैंक में जमा है। मैं प्रतिवर्ष पुस्तकें बेच कर कुछ न कुछ जमा करता रहा हूँ। उसका सूद भी हो गया। कुल सवा लाख की रकम है। यह सब प्रतिमा का है। उसके विवाह पर देने को रख छोड़ा है। मैं प्रतिवर्ष उसके विवाह का समाचार मँगाता हूँ। ठीक समय पर मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि आप मुझे प्रतिमा को यह दान देने दें। आशा है, आप मुझे इस सुख से वंचित न करेंगे। उसने हँसना चाहा, पर वह फूट फूट कर रो पड़ा, वह मेरे पैरों में लोट गया।

मैं अजीब हालत में था। मैंने कहा—आप अद्भुत व्यक्ति हैं। इतना धन रहते हुए आप इस भाँति रहते हैं।

"वह धन तो मेरी प्रतिमा का है। बेटी का धन क्या मैं खा सकता हूँ।"

"भोजन की क्या व्यवस्था है?"

"मैं प्रतिदिन तीन पैसे के सत्तू लाता हूँ और आधा आधा दोनों समय थोड़ा नमक मिला पानी में घोलकर पी लेता हूँ।"

"क्या २१ वर्षों में यही आपका भोजन रहा है?"

"केवल यही। मित्र, मैं अभागा अपने शरीर पर तीन पैसे से अधिक खर्च कर ही नहीं सकता।"

"कभी कोई फल-वल।"

"गत वर्ष मैंने एक अमरूद खाया था। मेरे एक मित्र ने दिया था।"

"वस्त्र?"

"ये मेरे वही पुराने वस्त्र हैं। जीवन भर को काफी हैं।"

वह हँसने लगा। मेरी आँखें भर आईं। और मैं उस अद्भुत व्यक्ति का आलिंगन करके खूब रोया।

मेरे रोने का एक कारण था। हाय कैसी लज्जा और कायरता की बात है? उसे अपने मुँह से कैसे कहूँ?

उसने कम्पित स्वर में कहा—मित्र नाराज न हो तो एक बात पूछूँ?

मैं भयभीत हो गया। क्या वही बात है? मेरे होंठ काँपने लगे। मैं यह न कह सका कि पूछो। पर उसने पूछ ही लिया।

"विमला कैसी है? आप उससे कभी लड़ते तो नहीं?"

मैं उत्तर क्या देता? मेरा सारा शरीर काँपने लगा। मेरी चेष्टा से उसके चेहरे का रंग फक हो गया। उसने लपक कर मेरा हाथ पकड़ लिया और पूछा—कहो प्यारे मित्र, विमला प्रसन्न तो है?

मैंने अन्यत्र देखते हुए कहा—वह इस लोक में नहीं है। उसे स्वर्गवास हुए १० वर्ष हो गये।

"क्या कहा? १० वर्ष?" वह पागल की भाँति आँख फाड़-फाड़ कर देखने लगा।

मैं अपराधी की भाँति दृष्टि नीचे किये बैठा रहा। कुछ देर सन्नाटा रहा। फिर मानो विषाद के सागर में एक गहरी डुबकी लगाकर उसने कहा—मित्र, तुम्हारा धीरज धन्य है? इतनी आसानी से उसके अभाव को सह गये? यह शब्द न कहकर वह यदि मेरे ऊपर प्रहार करता तो अच्छा था। मैंने उसकी ओर देख कर कहा—मुझे आप कायर और पतित कह सकते हैं।

वह कुछ नहीं बोला। उसने तनिक कठोर दृष्टि से मेरी ओर देखा।

मैंने स्थिर स्वर में कहा—मैंने दूसरा विवाह किया है, और मैं उसे शायद भूल गया हूँ। मेरे होंठ काँपने लगे। वह कुछ नहीं बोला। वह बड़ी देर तक मेरी ओर बिना हिले-डुले देखता रहा। मेरी दृष्टि पृथ्वी पर गड़ गई। उसने कहा—अब आप जाइए। बहुत विलम्ब हो गया है।

में उठ खड़ा हुआ। वह गाड़ी तक आया। मैंने कहा— कल अवश्य ही मेरे डेरे पर आइए। उसने रूखे स्वर में कहा—आऊँगा। वह लौट गया। मैं भी गाड़ी में बैठ कलेजे पर बोझा ले स्थान पर आया।

(३)

दूसरे दिन वह आया। वही वेश था। तिस पर एक रजाई, एक लुटिया, एक पोटली सत्तू, एक जल भरने की रस्सी, एक गाँठ में कुछ पुस्तकें। यह सब कन्धे पर लदी थीं। वह चुप-चाप सम्मुख खड़ा हो गया। मैंने सादर उसकी अभ्यर्थना की। उसने उसकी तनिक भी परवा न कर कहा—वहाँ आने से मेरे पैरों से आपका फर्श खराब हो जायगा। मैं कुछ देर यहीं बैठ कर बातें कर लूँगा। वह बिना ही उत्तर की प्रतीक्षा किये फर्श से दूर जमीन पर बैठ गया। मैंने उसके लिए फल और जलपान की कुछ सामग्री मँगवा रक्खी थी। बहुत कहने पर भी उसने उसे न छुआ। भोजन का निमन्त्रण भी उसने हँसकर टाल दिया। अपने सत्तू की पोटली दिखा कर कहा—मेरा भोजन सदैव मेरे साथ रहता है।

इसके बाद उसने एक कागज मेरे हाथ में देकर कहा— यही प्रतिमा के नाम मेरा दानपत्र है। इसकी बाकायदा रजिस्ट्री कराई गई है। कृपा करके उसके विवाह के शुभ अवसर पर उसे दे दें। मैं अब उसके सम्मुख नहीं जाऊँगा। इसके बाद कुछ ठहर कर उसने कम्पित कण्ठ से कहा—मित्र, बिना माता की उस निरीह बालिका के लिए अपनी नवीन पत्नी से कुछ स्नेह सदा ही बचाये रहना, और उसके लिए बहुत ही सावधानी से वर खोजना।

मैं तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा था। क्या कहूँ, समझ ही नहीं पड़ता था। ग्लानि और लज्जा के मारे प्राण निकले जाते थे। चित्त स्थिर होने पर देखा। वह चला गया है। वहाँ नहीं है।

सन्ध्या-समय में फिर उसके उस स्थान पर गया। वह वहाँ नहीं था। उसका सामान भी नहीं था। एक निकटवर्ती पुरुष ने कहा—वे अब दूर देश की यात्रा को चले गये हैं। कह गये हैं, अब लौट कर न आवेंगे।

१९३३

❀ ❀ ❀

प्रतीक्षा

श्रीमती उषादेवी

(१)

मार्बल पहाड़ के हृदय को चीरती हुई श्वेत ऐरावत की तरह नर्मदा नदी बह रही थी। श्रावण की अविराम धारा से उसकी मदमाती लहरें पर्वत के वक्षःस्थल पर लोट रही थीं। ऊपर के डाक-बँगले के रेलिंग से झुके हुए दो युवक निर्निमेष नयनों से इस अपूर्व दृश्य को देख रहे थे। एक ने कहा—सोहन, यह कैसा विचित्र रूप है? एक रुद्र है तो दूसरा शान्त, एक शुभ्र कोमल है तो दूसरा प्रचण्ड भयानक। मैंने ऐसा कभी नहीं देखा था।

"यहाँ एक बार मैं और भी आया था। यह स्थान मुझको बहुत पसंद है। तभी तो बम्बई न जाकर जबलपुर ही तुम्हें लेता आया। भेड़ाघाट भृगु-मुनि का आश्रम है। यह एक प्रसिद्ध स्थान है। उस संगमर्मर के पहाड़ के देखने को लोग दूर दूर से आया करते हैं। वर्षा के कारण तुम्हें नाव-द्वारा नर्मदा की सैर नहीं करा सका। उस बार चाँदनी रात में हम कई आदमी नाव पर गये थे। मैं कह नहीं सकता कि क्या देखा! चन्द्रमा की किरणों में दोनों ओर शुभ्र शैल-राशि हीरे की भाँति चमक रही थी। नहीं नहीं, मैं भूल करता हूँ, हीरे की दीप्ति तो आँख को सह्य नहीं होती, पर उसकी दीप्ति मृदु, कोमल, मोहक थी। जीवन भर जिस रूप को देखकर तृष्णा नहीं मिटती, मन को सन्तोष नहीं होता, जो सदा नूतन ही बना रहता है, उसका वही शान्त, स्निग्ध, आकर्षक रूप था। षोडशी

नर्मदा लाज-रक्तिम भाव से नवोढा वधू की तरह घूँघट से मुँह ढाँके उसके हृदय पर थिरक रही थी—लहरों की वह मीठी झङ्कार नूपुर-ध्वनि की तरह प्रतीत होती थी।"

"बस करो भाई। तुम्हारी तरह न तो मैं भावुक हूँ और न कवि हूँ। पर 'धुआँधार' मुझे पसन्द नहीं आया। वैसे झरने कई हैं। हाँ, संगमर्मर का पहाड़ देखने की वस्तु जरूर है।"

"और चौंसठ योगिनी ?"

"बाप रे बाप! उसकी तो सीढ़ियाँ ही तय नहीं होतीं। और फिर मेहनत करके चढ़ो भी तो गौरीशङ्कर की मूर्ति व टूटी-फूटी चौंसठ योगिनी को देखो। वहाँ और धरा ही क्या है ?"

"वाह, वाह बसंत। खूब कही। अरे चौंसठ योगिनी में कैसी पुरानी बातें भरी पड़ी हैं, कुछ जानते भी हो ?"

"मैं तुम्हारी तरह मूर्तियों की खोज में तो मारा-मारा फिरता नहीं। कैसे समझूँ ? चलो भई भूख लगी है।"

(२)

"तू उतर जा। मैं अभी झूलूँगी।"

"अरी कमला, वह गीत तो पूरा कर ले।" यमुना बोली।

"जब तुम दोनों झूलती थीं तब मैंने दो कजलियाँ गाई थीं। क्यों यमुना ?"

"वे तो एक ही कजली में हाँफ गईं।"

एक घने अश्वत्थ की डाल में झूला पड़ा हुआ था। बारी-बारी से दो-दो स्त्रियाँ झूल रही थीं। सात-आठ स्त्रियाँ उन्हें घेरे हुए चुटकियाँ बजा-बजाकर कजलियाँ गा रही थीं। इस बार लज्जाशङ्कर की कन्या यमुना और उनकी पुत्रबधू अशोका की पारी थी। भेड़ाघाट में लज्जाशङ्कर धनवान् गिने जाते थे, इसलिए उनके परिवार के लोगों का वहाँ काफी सम्मान था।

गौरीशंकर के पुजारी की कन्या कमला चिढ़ गई। उसने कहा—क्यों झूठ बोलती हो, भौजी ? अरे देख तो यमुना। वह आदमी कैसा असभ्य है ?

यमुना घूम कर देखने लगी। सोहन पर दृष्टि पड़ते ही वह हँस पड़ी।

"कोई आँख फाड़-फाड़कर देखे और तू हँसा कर।" क्रोध के साथ कमला ने कहा।

"चिढ़ती क्यों हो बहन ? वे सोहन बाबू हैं।"

"कौन सोहन, कहाँ का सोहन ?"

"सो तो मैं नहीं जानती। कोई साल भर पहले ये कलकत्ते से आये थे, हमारे घर महीना भर रहे थे। इस बार न मालूम कहाँ उतरे हैं ? वही हैं न भौजी ?"

"रहने दे। इस तरह देखना क्या ठीक है ?" कमला का क्रोध शान्त नहीं हुआ था।

"चिल्ला मत बहन! वे सुन लेंगे। भले आदमी हैं।"

यमुना लिखी-पढ़ी थी, इससे उसकी सहेलियाँ उसका मान करती थीं।

कमला तो चुप हो गई, पर विमला ने कहा—बाबू जी, औरतों का नाचना-गाना देखने में शर्म नहीं आती ?

"माफ करना यमुना देवी। मेरे मित्र के लिए यह एक नई चीज थी, इसलिए वे खड़े हो गये। इन्हें आप समझा दें। पर घर में तो सब लोग अच्छे हैं न ?" सोहन ने यमुना के निकट आकर कहा।

"सब अच्छे हैं। चलो कम से कम आप पहचान तो गये। मैं समझती थी, भूल गये होंगे, तभी एक बार मुलाकात के लिए भी नहीं आये।" अशोका ने उत्तर दिया।

"आपके घर आज ही आने वाला था।"

"फिर ?" अशोका मुस्कुरा रही थी।

"आप तो हँसी करती हैं।"

"नहीं, नहीं, मैं आपको स्मरण दिलाती हूँ। हाँ, तब क्या हुआ ?"

"अब मैं घर ही पर कहूँगा। चलिए।"

दोनों मित्रों को देखकर लज्जाशंकर बहुत खुश हुए। उनका सामान डाक-बँगले से उठ कर लज्जाशंकर के घर आ गया।

(३)

रात आधी से ज्यादा जा चुकी थी। पृथ्वी निद्रा की गोदी में अचेत पड़ी हुई थी।

एक दिगन्तरव्यापी गंभीर गर्जन से यमुना एकाएक जाग उठी। घबराकर वह कमरे के बाहर निकली। पथ

की ओर उसकी दृष्टि पड़ी। अजगर की तरह विपुलकाय भीषण गर्जन करता हुआ वह कौन पृथ्वी को ग्रास करता चला आ रहा है?

भय से वह काँपने लगी। उसने कहा—अरे यह तो बाढ़ है। चारों ओर खलबली मच गई। अपनी-अपनी जान लेकर लोग भागने लगे। परन्तु जाते कहाँ? चारों ओर अगाध जलराशि प्रलय की तरह उपस्थित थी। उस ध्वंस की सीमा शायद ही हो। पेड़ों, मन्दिरों, घर के छप्परों और गौरीशंकर के मन्दिर पर लोग भागकर चढ़ने लगे।

भागती हुई यमुना व्याकुल कंठ से बोली—सोहन बाबू तो घर में ही रह गये।

"रहने दो। उसके लिए क्या मैं अपनी जान दूँ?" उसका भाई ज्ञानशंकर गर्जकर बोला।

"मैं चली, भैया।" कुछ कहने-सुनने का अवसर न देकर यमुना लौट पड़ी।

"जल्दी उठिए।" इसके आगे वह और एक शब्द भी न कह सकी।

अलसाई हुई आँखें रगड़ता सोहन उठ बैठा।

"क्यों, क्या है?"

यमुना एक तरफ खींचती हुई सोहन को ले चली। बाहर निकल कर वहाँ का भीषण दृश्य देखकर सोहन अवाक् रह गया। उसने कहा—और सब कहाँ गये?

"भाग गये।"

"और तुम?"

"आपके लिए लौटी हूँ।"

"मेरे लिए?" प्रश्न में आनन्द था, सन्तोष था और था विस्मय।

"हाँ।"

"मैं तुम्हारा कौन हूँ।"

यमुना निरुत्तर रही।

"मेरा मित्र कहाँ गया?"

"वे तो पेड़ पर चढ़ गये हैं। मैंने कई आवाजें लगाईं, पर वे उतरे ही नहीं।"

"मेरा मित्र मुझे छोड़कर भाग गया और तुम मरण-द्वार पर मेरे लिए लौट आई?"

यमुना चुपचाप चल पड़ी।

गौरीशंकर का मन्दिर भेड़ाघाट निवासियों से भरा हुआ था। लज्जाशंकर भी परिवार-सहित वहीं थे। मन्दिर के पुजारी महादेव तिवारी के घर में उनका डेरा पड़ा था। दूसरे लोगों को कष्ट था, पर पुजारी के कारण उन्हें किसी तरह का कष्ट नहीं था।

गौरीशंकर की सीढ़ी पर बैठी यमुना प्रकृति के उस भयानक रूप को देख रही थी। आज उसकी बगल में सोहन नहीं था। उसने आज का दिन चौंसठ योगिनी के देखने में बिता दिया। कमला व अशोका रोटी बनाने में लगी थीं।

यमुना के नेत्रों से आँसू की धारा बह चली। उसके सामने के मन्दिर पर एक साधू बैठा था। उसके देखते ही देखते वह डूब गया। सोहन के मित्र का कहीं पता नहीं था। गायें, भैंसें, पेड़, पौधे, भेड़-बकरियाँ, घर के छप्पर, सब बह चले थे। मन्दिर की कोई साठ सीढ़ियाँ पानी में डूब चुकी थीं। चारों तरफ अगाध जल-राशि में ध्वंस का काम जारी था। मृत्यु के ऐसे डरावने दृश्य से उसका कोमल हृदय विकल हो उठा।

"रोती हो यमुना?" सोहन ने धीरे से पूछा।

"मैं यह देख नहीं सकती।"

"फिर बैठी क्यों हो?"

"उठ भी तो नहीं सकती, सोहन बाबू।"

"मेरी भी यही दशा होती यमुना, यदि तुम न बचातीं।"

"मैंने क्या किया?"

"तुमने सब कुछ किया। तुम्हीं ने मुझे जीवन-दान दिया।"

"कई बार कह चुके हो, सोहन बाबू। अब बस करिये।"

"नहीं, इस मौत के सामने फिर भी बताने आया हूँ। उसकी अधिकारिणी यदि दुनिया में कोई हो तो वह तुम हो यमुना।"

यमुना कुछ न कह न सकी। ऐसी भीषण मृत्यु के सामने वह इन बातों को सुनना नहीं चाहती थी।

अपनी बातों से सोहन शर्मा गया। पत्थर जैसी कठोर हृदया नारी से वह अपना प्रेम बताने गया था।

उसका जीवन बचाना शायद कोरा कर्तव्य, केवल नारी-हृदय की दया ही थी।

धीरे-धीरे क्रुद्ध जलराशि किसी अनजान देश को चल पड़ी। प्रकृति ने शान्त रूप धारण किया। लोग अपने-अपने घर की अवस्था सुधारने में जुट पड़े।

(४)

आज सबेरे से सोहन का कहीं पता न था। पुजारी चिल्ला पड़े—योगिनी की वह मूर्ति कहाँ गई?

लोगों में एक विस्मय-सा व्याप्त हो गया। जिस समय मूर्ति-सहित सोहन पकड़ा गया, वह मूर्ति की भाँति स्तब्ध खड़ा रह गया।

"इस चोर को राजद्वार से दण्डित कराना उचित है।" क्रोध से पुजारी काँप रहे थे।

सोहन ने सिर ऊँचा कर लिया। लज्जाशंकर घृणा से उसे देखने लगे। ऐसे ही समय जनता को हटाती हुई धीरे-धीरे यमुना आकर खड़ी हो गई। उसने कहा—पुजारी काका, यदि कुछ दण्ड हो तो मुझे मिलना चाहिए।

"क्यों बेटी?"

"वे चोर नहीं, मैं हूँ। मैंने ही उन्हें मूर्ति दी थी।"

प्रश्नों की वर्षा होने लगी। किन्तु वह उसके आगे और कुछ न बोली।

सन्ध्या के अँधेरे में नर्मदा के उस पार बालू के ढेर पर दोनों खड़े थे। सोहन ने कहा—आज भी तुमने ही मुझे बचाया, यमुना।

"आप अब देर मत करिये।"

"पर जाते समय भी तुम चुप ही रहोगी?"

"क्या सुनना चाहते हैं आप?"

"मैं तुम्हें" सोहन ने अपने को सँभाल लिया, "क्या तुम मेरी प्रतीक्षा करोगी?"

"करूँगी।"

"कब तक?"

"जीवन भर।" प्रशान्त कंठ से उसने उत्तर दिया।

(५)

इस घटना को कई साल व्यतीत हो गये। यमुना के माता-पिता अनंतधाम को चल बसे थे। यमुना के उस सुडौल शरीर में बहुत-कुछ परिवर्तन हो चुका था। वह गुलाब-सा रमणीय मुख म्लान होकर कुछ लम्बा-सा हो गया था, हाथ-पैर सूखकर लकड़ी-से हो रहे थे, आँखों के नीचे काली लकीर पड़ गई थी। दिन भर वह घाट पर टकटकी लगाये सोहन की प्रतीक्षा में बैठी रहती। सूखे पत्तों की आहट से चौंक पड़ती। गाड़ी, मोटर के शब्द से घंटों उनकी ओर देखा करती, कभी-कभी भेड़ाघाट के कोने-कोने में ढूँढ़ती फिरती, धुआँधार के झरने को झाँक-झाँक कर देखती—उस स्रोत में तो कहीं उसका प्रिय बह न गया हो। पहाड़ तय करती हुई 'डेवलस्पूल' के नीचे तक उतर जाती—शायद वहाँ सोहन छिपा बैठा हो। नाव पर कभी सवार हो लेती, दोनों ओर सफेद पहाड़ों पर आकुल दृष्टि से देखा करती। नाविकों की वह आवाज—देखो, वह सप्त सूर्य पहाड़ पर खुदे हैं, वह ऐरावत हाथी के पाँव का चिह्न है, भृगु मुनि के योग करते समय इन्द्रादि देवता गण आये थे, वहाँ बैठे थे, वह 'बन्दर कूदनी' है, वह 'दत्तात्रेय की गुफा' है, इत्यादि—उसके कान तक शायद ही पहुँचते। नाव पर जाते समय पहाड़ के एक ओर जो थोड़ा स्थान पानी से खाली था वहाँ पर उतर जाती, करोड़ों चमकीले विचित्र-वर्ण के पत्थर उसकी दृष्टि को आकृष्ट नहीं कर सकते, वह गुफा, कन्दरे में भटकती फिरती। नाविक घण्टों किनारे नाव लगाये उसके लौटने की राह देखा करते। वह गगनस्पर्शी शैल-शिखर पर चढ़ जाती, झुरमुट-झाड़ियों में हड्डियों के ढेर में देखा करती। लोग कहते यमुना पागल हो गई है।

कभी वह ज्ञान की ऐसी बातें करती कि सुनने वाले अवाक् रह जाते। कभी गाती, कभी हँसती, कभी रोती, कभी सिर ओढ़कर कहती—वे आते हैं। इसी तरह उसके दिन कट रहे थे।

पहाड़ पर बैठी यमुना घुंघुंचियाँ बटोर रही थी। कमला व अशोका उसे ढूँढ़ती हुई वहाँ पहुँचीं।

"वाह बहन! हम तब से तुम्हें ढूंढ़ रही हैं और तुम यहाँ बैठी हो, चलो रोटी खा लो।"

"इतनी घुंघुंचियों का क्या करोगी ?" कमला ने पूछा।

"हार बनाऊँगी।" आँचल में घुंघुंचियाँ भरकर यमुना ने उत्तर दिया।

"तू पहनेगी ?"

"नहीं, उन्हें पहनाऊँगी।"

"किसे, सोहन को ? उसकी आशा छोड़ दे बहन, वह प्रतारक अब न आवेगा।"

"किसने कहा ?" अविश्वास के साथ उसने पूछा।

"किसी ने नहीं। मैं कहती हूँ। अपने जीवन को क्यों मुफ्त में खो रही है यमुना ?"

"वे आवेंगे।"

"तेरी भूल है। अभागी तू नहीं जानती, पुरुष कैसे प्रतारक होते हैं।" करुणा भरे स्वर में अशोका बोली।

"मैं उन्हें चाहती हूँ।"

"फिर इससे क्या ? मैं जानती हूँ, तू उस शैतान को चाहती है।"

"मेरी चाह, मेरा प्रेम इतना छोटा नहीं है, भौजी। चाहे जब हो, वे आवेंगे। उन्हें आना ही पड़ेगा।" परम विश्वास से यमुना ने कहा।

यह कैसा सर्वग्रासी अन्धविश्वास है—आशा का यह कैसा मोहनी मन्त्र है! यह मन में विचार कर अशोका की आँखों से आँसू निकल पड़े, वह चुप हो रही। ऐसे विश्वास के विरुद्ध कुछ कहते उसे संकोच-सा होने लगा।

"अब कब आवेगा, सात-आठ साल तो हो गये ?" कमला ने पूछा।

"चाहे जब हो, वे आवेंगे जरूर।"

"क्या जीवन के शेष में वह आवेगा ?"

"नहीं, पहले।"

"यदि न आवे ?"

"हानि ही क्या है बहन ? मैं इसी में सन्तुष्ट हूँ। मैं उन्हें चाहती हूँ, इतना ही क्या मेरे लिए बस न होगा ? किन्तु उन्हें आना ही पड़ेगा, मेरी भक्ति-चाह, मेरा प्यार, प्रेम उन्हें अवश्य खींच लावेगा।"

"वह प्रतारक है।"

"नहीं, वे मेरे देवता हैं।"

"वह स्वार्थी है।"

"नहीं वे मेरे प्रिय हैं, मेरे उपास्य हैं।"

"वह स्वार्थी है।"

"नहीं वे मेरे मोहक हैं—मेरे सर्वस्व हैं—उनकी निन्दा मत करो।"

विस्मय-विमूढ़ा कमला उसका मुँह निहारती रह गई।

(६)

मूर्तियाँ देखने के लिए कई मूर्तितत्त्वज्ञ आये थे, उनके साथ जिला-कमिश्नर, मैजिस्ट्रेट वगैरह भी आये थे। गौरीशंकर के प्रांगण में कुर्सियाँ लगाई गई थीं। वे लोग उन्हीं पर बैठे हुए थे। मूर्तियों की छानबीन हो रही थी।

चौंसठ योगिनी की मूर्तियाँ देखता-देखता मैजिस्ट्रेट चौंक पड़ा। उसके हृदय पर चोट-सी लगी। इस मूर्ति में इस स्थान की रग-रग में अतीत की मनोहर कहानी जड़ी हुई थी। इसके अन्तर में एक भूली-सी बात के स्मरण से खलबली-सी मच गई। कोई अदृश्य आकर्षण खींचने लगा। व्याकुल होकर उसने किसी से पूछा—आप उसे जानते हैं ?

"किसे महोदय ?"

"यमुना, यमुना को ?"

"कौन, वह उपाध्याय की बेटी पागल यमुना ?"

"यमुना पागल है ?"

"जी हाँ, वह एक चोर के लिए पागल है।"

"कौन, कौन, किसके लिए ?" अधीर स्वर से मैजिस्ट्रेट ने प्रश्न किया।

"भला-सा तो नाम था हुजूर, मुझे याद नहीं।"

"क्या उसका नाम सोहन था ?"

"जी हाँ, यही नाम था, अब याद आया।" अत्यन्त विस्मय से वह मैजिस्ट्रेट का मुँह निहारने लगा। उसकी तीव्र दृष्टि के सामने मैजिस्ट्रेट घबरा उठा। मूर्ति देखने के बहाने वह उस पर झुका।

लोग चिल्ला पड़े—साँप, साँप।

चीख मारकर मैजिस्ट्रेट ने हाथ खींच लिया।

पचासों मनुष्य टूट पड़े। साँप मारा गया। किन्तु मैजिस्ट्रेट बेसुध था। लोग दौड़ पड़े, झाड़-फूँक चलने लगी। डाक्टर के लिए शहर को मोटर भेजा गया। कुछ समझे बिना ही यमुना चल पड़ी। उपाध्याय की लड़की को देखकर लोग पथ छोड़ने लगे। चौंसठ योगिनी की सीढ़ियाँ तय करती हुई वह मैजिस्ट्रेट के सिरहाने जाकर खड़ी हो गई।

कमिश्नर ने पूछा—क्या आप साँप का मन्त्र जानती हैं? किन्तु कमिश्नर की बात शायद ही उसके कानों तक पहुँची हो। उसने मैजिस्ट्रेट का सिर अपनी गोदी में रख लिया। लोगों से पूछने पर कमिश्नर को मालूम हुआ, वह पागल है। ज्ञानशंकर बुलवाये गये।

"यह क्या करती हो बहन, घर चलो।" ज्ञानशंकर ने कहा।

"मेरे—मेरे पति इतने दिनों के बाद मेरी ही गोद में लौट आये हैं भैया!"

"छिः। यमुना, ये मैजिस्ट्रेट साहब हैं।"

यमुना हँसी। उसने कहा—क्या मैं अपने पति को भी नहीं पहचानती?

ज्ञानशंकर ने बेसुध मैजिस्ट्रेट की ओर अच्छी तरह देखा। वह सोहन ही था।

कमिश्नर हिन्दी समझते थे। ज्ञानशंकर से संक्षेप में कुल बातें सुनकर वे स्तम्भित हुए। उन्होंने कहा—यह कैसा सर्वग्रासी प्रेम, अटल प्रतीक्षा है। वे व्यथा के साथ बोले—"आप जरा हटकर बैठें, श्रीमतीजी। झाड़-फूँक वाले उन्हें अभी झाड़ेंगे।"

इतनी देर के बाद जैसे वह कुछ समझी। उसने पूछा—मेरे पति को क्या हुआ है?

"साँप ने काटा है।"

"मेरे पति को?"

"हाँ, आपके पति को।"

"कहाँ?"

कमिश्नर ने सोहन के पैर की उँगली दिखला दी। उसके पैर को गोद में लेकर यमुना मुँह से वह उँगली चूस-चूसकर थूकने लगी। दर्शकों में एक दर्द भरी व्याकुल नीरवता छाई हुई थी। कमिश्नर के नेत्रों में मोती-सा कुछ झलक रहा था। शायद वह जल था।

१९३३

❀ ❀ ❀

दस मिनट

श्री रामकुमार वर्मा एम० ए०

नाटक के पात्र

महादेव—एक साधारण व्यक्ति
बलदेव—महादेव का मित्र
वासन्ती—बलदेव की बहन
पुलिस इंस्पेक्टर और चार सिपाही
स्थान—कानपुर से बीस मील दूर
समय—१८५७ के गदर के बाद

[आधी रात का समय

[एक सजा हुआ कमरा। उत्तर और दक्षिण दिशाओं में दो दरवाजे हैं। उत्तर-दिशा का दरवाजा बहुत छोटा है। दक्षिण-दिशा के दरवाजे के समीप एक खिड़की है, जो बन्द है। कमरे के ठीक बीच में एक टेबिल है, जिसके दोनों ओर दो कुर्सियाँ पड़ी हैं। सामने एक घड़ी लगी है, जिसमें दो बजकर पन्द्रह मिनट हुए हैं।

कमरे के एक कोने में एक पलंग बिछा है, जो कुछ पुराना हो गया है। उस पर एक प्रौढ़ व्यक्ति बहुत साधारण कपड़े पहने सो रहा है। उसकी आयु लगभग पैंतीस वर्ष की है। उसके मुख पर थकावट के चिह्न हैं। चारों ओर शान्ति है। कमरे में धीमा प्रकाश हो रहा है।

दक्षिण के दरवाजे पर खट्खट् की आवाज]

एक स्वर महा...देव, महा...देव.......

(महादेव आलस से सिर उठाता है। वह आँखें मलता हुआ भौंहें सिकोड़कर दरवाजे की तरफ देखता है।)

वही स्वर—महा...दे...व...(अन्तिम अक्षर 'व' धीमा)

महादेव—(इच्छा न होते हुए भी उठकर)—आधी रात को भी चैन नहीं। '(दरवाजे के समीप पहुँच कर चिढ़े हुए स्वर में)—कौन है?

वही स्वर—(भर्राया हुआ)—बलदेव

महादेव—(आश्चर्य से)—ऍं बलदेव!! तुम इस (दरवाजा खोलता है) समय कैसे (चौंक कर पीछे हटते हुए) आ...... (मन्द स्वर) ए...यह...क्या?

(बलदेव का प्रवेश। वह पच्चीस वर्ष का नवयुवक है। उसके वस्त्र खून से रँगे हैं। कुर्ते का ऊपरी हिस्सा फटा हुआ है। हाथ में छुरी है, जो काँपने के कारण वस्त्र में उलझ रही है। बलदेव के मुख पर भय अंकित है। वह सहमी हुई नजरों से इधर-उधर देख रहा है।)

बलदेव—(भर्राई हुई आवाज में)—महादेव, मैंने खू...न कर दिया!

महादेव—(विकृत होकर) खून कर दिया? किस-का? कब?

बलदेव—(सँभल कर)—नहीं, नहीं, खून नहीं किया। किसी दूसरे आदमी ने खून कर मेरे हाथ में छुरी दे दी। मैं निर्दोष हूँ। कौन कहता है कि मैंने खून किया है? ऍं?

महादेव अभी तो तुम्हीं ने कहा था। ये तुम्हारे कपड़े...

(बलदेव के कपड़े हाथ से छूता है)

बलदेव—(शिथिल होकर)—मैंने कहा था? तो हाँ, मैंने खून कर दिया। उसी पापी केशव का। मेरी बहन को मैली दृष्टि से देखने वाले (ओंठ चबाते हुए) केशव का। (व्यङ्ग्य की हँसी हँसकर) हँुअ! छिपकर आया था, जब संसार की आँखें सो रही थीं। जाग रही थीं केवल चार आँखें; दो ईश्वर की और दो मेरी। अपने हृदय को काले पाप में और अपने शरीर को काले वस्त्र में छिपाकर आया था। (झुककर) इस तरह झुककर आ रहा था। मैंने एक ही बार में उसे पूरा झुका दिया। देखते हो यह छुरी और सफलता के रंग में रँगे हुए ये कपड़े ...... (गर्व की मुद्रा)

महादेव—(क्रोध से)—तुम्हारी बहन को मैली दृष्टि से देखता था वह? तुमने छुरी कहाँ मारी?

बलदेव—बगल में।

महादेव—बगल में? नासमझ! आँखों में घुसेड़ देनी चाहिए थी! वे पापी आँखें संसार का प्रकाश न देख सकतीं। जिन आँखों में पाप का खून था उन आँखों का बहन के अपमान का खून होना चाहिए था। छिः! बदला लेना भी न आया। (घूरता है)

बलदेव—तो वह मैं अभी कर सकता हूँ। फिर जाता हूँ। (उद्यत होता है)

महादेव—हाँ, जाओ। इस छिपे हुए रास्ते से जाओ (उत्तर दरवाजे की ओर संकेत करता है) और अभी इसी से लौटकर आओ। नहीं तो पुलिस के हाथ में पड़ जाओगे। वह तो इस समय बिजली की तरह दौड़ रही होगी। (रुककर) पर अब...जाकर क्या करोगे? अब तो वह नीच मर ही गया होगा! अब उसे फिर मारने से क्या लाभ?

बलदेव—(उग्रता से) नहीं, नहीं, बदला लेना सीखने दो। तुम्हारे हजार रोकने पर भी मैं (उत्तर-दिशा के छोटे दरवाजे से प्रस्थान। नेपथ्य से वाक्य की पूर्ति) अवश्य जाऊँगा। हृदय की आग (क्रमशः दूर होते हुए मन्द स्वर से) तो...बुझा...सकूँगा.... ।

(महादेव सोचता है। दक्षिण-दरवाजे पर फिर खटका होता है।)

महादेव—(दृढ़ता से)—अब कौन है? (उद्विग्न होकर) मेरे लिए यह रात भी दिन है!

(खिड़की पर खटका होता है)

महादेव—(दरवाजे के पास जाकर)—कौन है? नाम बतलाओ।

बाहर से—पुलिस।

महादेव—पुलिस? पुलिस का इस समय मेरे यहाँ क्या काम?

पुलिस—दरवाजा खोलो।

(महादेव दरवाजा खोलता है। पुलिस इंस्पेक्टर का प्रवेश। वह तीस वर्ष का मोटा-ताजा आदमी है। उसकी मूँछें चढ़ी हुई हैं। पूरी वर्दी पहने हुए है। उसके हाथ में

पिस्तौल है। साथ में चार सिपाही हैं, जो सभी पुलिस की वर्दी में हैं। सभी सिपाहियों के हाथ में भाले हैं।)

पुलिस (आते ही)—सारे हथियार रख दो। (पिस्तौल सामने करता है)

महादेव (पीछे हटकर)—कैसे हथियार? किसके हथियार?

इंस्पेक्टर—अच्छा, तुम अकेले ही हो? तुम्हारा नाम महादेव है?

महादेव—हाँ।

इंस्पेक्टर—तुम्हारे घर अभी कोई आदमी आया था?

महादेव—आदमी नहीं, देवता था। अपनी बहन के सम्मान की रक्षा करने वाला एक देवता था।

इंस्पेक्टर—देवता? इसके क्या मानी?

महादेव—देवता के क्या मानी होते हैं?

इंस्पेक्टर—खाक! (पैर पटक कर) बारह और दो बजे के बीच में एक खून हुआ है।

महादेव—हुआ करे। उससे मेरा क्या? उसी खून को लेकर प्रभात की पूर्व-दिशा मुस्कुरा उठेगी और उसी लालिमा से सारे संसार में आलोक छा जायगा। संसार के कण-कण में वही रक्त जीवन का अनन्त संदेश एक बार ही प्रातःकाल के मधुर समीर में बिखरा देगा।

इंस्पेक्टर (तीव्र स्वर से)—यह क्या बक रहे हो? जो कुछ पूछता हूँ, ठीक ठीक बतलाओ। जो आदमी अभी यहाँ आया था वह कहाँ गया?

महादेव—वह दस मिनट बाद आयेगा। उस समय आइएगा।

इंस्पेक्टर (व्यंग्य से)—आप कृपया मकान खाली कर दें। मैं मकान की तलाशी लूँगा। वह चाहे दस मिनट में आये, चाहे बीस मिनट में। आप समझे न?

महादेव—आपके पास तलाशी का वारंट है?

इंस्पेक्टर—मेरा हुक्म ही वारंट है जनाब!

महादेव—आधी रात के समय यह आपकी ज्यादती है। खैर, मेरे पास केवल यही तो कमरा है। जहाँ तक आपकी नजर जाती है, उतना ही हिस्सा मेरे अधिकार में है। उसे ही देख लीजिए। क्यों देख पड़ता है कोई खूनी?

इंस्पेक्टर (नम्र होकर) देखो, यदि बतला दोगे तो भारी इनाम पाओगे। समझे! नहीं तो सन्देह में मैं तुम्हीं को गिरफ्तार करूँगा।

महादेव (आगे बढ़कर)—खुशी से गिरफ्तार कर सकते हैं आप। पर मैं धर्म की शपथ लेकर कह सकता हूँ कि मैं बिलकुल निरपराध हूँ।

इंस्पेक्टर—अच्छा तो बिलकुल सच बतला दो, तुम खूनी के बारे में क्या जानते हो। (महादेव की ओर तीव्र दृष्टि से देखता है)

महादेव—कह रहा हूँ, आप दस मिनट के बाद आइए। दो बजकर चालीस मिनट पर (घड़ी की ओर देखता है)

इंस्पेक्टर—और यदि मैं दस मिनट तक यहीं ठहरूँ तो?

महादेव—तो शायद वह न आये?

इंस्पेक्टर—क्यों?

महादेव—पुलिस और खूनी में कुत्ते और बिल्ली का सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखा करते हैं।

इंस्पेक्टर—अच्छा, मैं आपकी तलाशी दो मिनट के बाद लूँगा। (सिपाहियों से) देखो इस मकान को चारों तरफ से घेर लो। मैं इस बीच में लाश उठवा लूँ। मैं अभी आया।

सिपाही (सलाम करके)—बहुत अच्छा।

इंस्पेक्टर (व्यंग्य से)—अच्छा, आप दो मिनट आराम कर सकते हैं।

(इंस्पेक्टर का सिपाहियों के साथ प्रस्थान। महादेव दरवाजा बन्द करता है। वह कुछ क्षण टेबिल के पास सिर झुकाये खड़ा रहता है। उत्तर-दरवाजे से आवाज आती है। महादेव धीरे से जाकर दरवाजा खोलता है। बलदेव का प्रवेश। बलदेव और भी अधिक खून से रँग गया है।)

बलदेव (प्रसन्न होकर)—पार हो गई छुरी। दोनों आँखों के पार हो गई। अब शायद अगले जन्म में वह किसी को मैली दृष्टि से न देखे !

महादेव (गंभीर होकर)—संभव है, अगले जन्म में वह नेत्रविहीन हो। पाप-दृष्टि से देखना कैसा ?

बलदेव (अपने ही विचारों में लीन होकर आँखें फाड़कर)—उफ् ! रक्त से समस्त पृथ्वी लाल हो गई थी, मानो मेरे इस कृत्य को देखकर पृथ्वी भी खिलखिला उठी थी। मैं भी दिल खोलकर खूब हँसा। (मुँह विकृत कर हँसता है)

महादेव (गंभीर होकर)—उसी उल्लास की हँसी से लाल होकर कल प्रातःकाल सूरज हँसेगा, गुलाब हँसेगा और उसके साथ साथ उसकी सहचरियाँ कलियाँ भी.... हाँ, एक काम करो।

बलदेव (उत्सुक होकर)—वह क्या ?

महादेव—यह विजय के रंग में रँगा हुआ कपड़ा उतार दो। (संदूक से नया कुर्ता निकालते हुए) यह लो नया कुर्ता। इसे पहन लो। इस दुनिया की पलकों में सन्देह की पुतलियाँ हैं।

बलदेव (दृढ़ता से)—रहने दो, इसका उत्तर मैं अपने गले के खून से दूँगा।

महादेव—न्याय से लड़ने वाले शत्रु को अपने गले के खून से उत्तर देना चाहिए। यह तो न्याय का युद्ध नहीं है।

बलदेव (सोचकर)—अच्छा, तुम (कुर्ता उतारते हुए) न मानोगे। तुम्हारा हठ बड़ा कठिन है। अब तो (नया कुर्ता पहनते हुए) तुम प्रसन्न हुए।

महादेव—थोड़ा विश्राम करो। दस मिनट तक (सोचकर) नहीं दस मिनट तक क्या करोगे ? जाओ, अपनी बहन का समाचार तो लो।

बलदेव (स्थिर होकर)—वह तो माता के प्रेम के समान शान्त और स्निग्ध स्वप्न-संसार में विचर रही होगी। मैं उसे उस शान्ति के निर्भर से निकालकर क्यों जागृति के पत्थर पर फेंक दूँ ? प्रातःकाल सूर्य की किरणें उसे स्वयं जगा लेंगी।

महादेव—नहीं, भाई के हाथ सूर्य की किरणों से अधिक कोमल और प्रेममय हैं। महात्मा तुलसी ने सहोदर भ्राता के सम्बन्ध में क्या लिखा है ?

बलदेव (आश्चर्य से)—तो क्या मुझे यहाँ ठहरने न दोगे ?

महादेव—भाई, यहाँ ठहरने की अपेक्षा बहन का कुशल जान लेना अधिक आवश्यक है। जिस बहन के सम्मान का मूल्य एक मनुष्य के जीवन से अधिक है उसका कुशल जानने के विषय में इतना संकोच क्यों है ? उससे मिलकर तुम फिर यहाँ आ सकते हो।

बलदेव (कुर्ता और छुरी को सँभालकर उठाते हुए)—अच्छा, भाई जाता हूँ; अभी थोड़ी देर बाद आऊँगा।

महादेव—यह कुर्ता और छुरी क्यों लिए जाते हो ? बहन के समीप इनका क्या काम ?

(बलदेव का एक कोने में छुरी और कुर्ता रखकर उत्तर-दरवाजे से प्रस्थान)

महादेव (सोचता हुआ)—यह सम्मान... का... प्रतिशोध।

(कुर्सी पर बैठकर गुनगुनाता है)

चाह नहीं है सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
गहनों में गूँथा जाऊँ।

चाह (दक्षिण-दरवाजे पर खटका) नहीं... (फिर खटका) प्रे...ए...मी...ई।

महादेव—ठहरो.... ।

(खून से भरा हुआ कुर्ता पहनकर हाथ में छुरी लेता है।

दरवाजा खोलते हुए)—कौन है ? (इंस्पेक्टर का पिस्तौल लिये प्रवेश)

इंस्पेक्टर—खूनी किधर है ? (महादेव को खून से लथपथ देखकर) ऐं खूनी ?

महादेव (दृढ़ता से)—मैं हूँ खूनी।

इंस्पेक्टर—तुम हो खूनी (आश्चर्य प्रकट करता है)। सिपाहियों ने अभी तुम्हारे कमरे में कुछ बातों की भनक सुनी थी।

महादेव—मैं गाना गा रहा था।

इंस्पेक्टर—हूँ ! (घूरता है) तुम खूनी हो ?

महादेव—देखते नहीं, ये कपड़े और यह छुरी ?

इंस्पेक्टर—तुम तो कहते थे दस मिनट बाद खूनी आवेगा !

महादेव—हाँ, दस मिनट बाद तुम्हें खूनी मिला या नहीं। खूनी तुम्हारे सामने खड़ा है और तुम उसे पकड़ने में सन्देह करते हो। लाश आपने देखी ? उसकी बगल और आँखों में घाव हैं।

इंस्पेक्टर—(सिर हिलाते हुए) हाँ, उसकी आँखें फोड़ डाली गई हैं और उसकी बगल में छुरी घुसेड़ी गई है।

महादेव (आगे बढ़कर)—और वह छुरी यह है (छुरी दिखलाता है)

इंस्पेक्टर (सिपाहियों से)—गिरफ्तार करो इसे। पुलिस-थाने ले चलो। इस मकान में ताला बन्द करो। इसके कोई सम्बन्धी तो हैं नहीं। थाने पर जाकर मामला तय होगा।

(सिपाही महादेव को गिरफ्तार करते हैं। उत्तर-दरवाजे से आवाज आती है) महादेव !

(धीमे स्वर में)

महादेव !!

इंस्पेक्टर—कौन है ?

(बाहर से) उसका मित्र बलदेव।

(बाहर से धीमे स्वर में) उसके मित्र की बहन वासन्ती !

इंस्पेक्टर (तीव्रता से)—इस समय महादेव किसी से नहीं मिल सकता !

(सिपाहियों से)—जल्दी चलो (प्रस्थान)।

(बाहर से धीमे स्वर में फिर महादेव का नाम सूनेपन में गूँजता है।)

(परदा गिरता है)

१९३३

❀ ❀ ❀

चिकित्सा का चक्कर

श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़, एम० ए०, एल० टी०

मैं बिलकुल हट्टा-कट्टा हूँ। देखने में मुझे कोई भला आदमी रोगी नहीं कह सकता। पर मेरी कहानी किसी भारतीय विधवा से कम करुण नहीं है, यद्यपि मैं विधुर नहीं हूँ। मेरी आयु लगभग पैंतीस साल की है। आज तक कभी बीमार नहीं पड़ा था। लोगों को बीमार देखता था तो मुझे बड़ी इच्छा होती थी कि किसी दिन मैं भी बीमार पड़ता तो अच्छा होता। यह तो न था कि मेरे बीमार होने पर भी दिन में दो बार बुलेटिन निकलते। पर इतना अवश्य था कि मेरे लिए बीमार पड़ने पर हंटले पामर के बिसकुट—जिन्हें साधारण अवस्था में घरवाले खाने नहीं देते, दवा की बात और है—खाने को मिलते। 'यू डी क्लोन' की शीशियाँ सिर पर कोमल करों से बीबी उँडेल कर मलती। और सबसे बड़ी इच्छा तो यह थी कि दोस्त लोग आकर मेरे सामने बैठते और गम्भीर मुद्रा धारण करके पूछते, कहिए किसकी दवा हो रही है ? कुछ फायदा है ? जब कोई इस प्रकार से रोनी सूरत बनाकर ऐसे प्रश्न करता है तब मुझे बड़ा मजा आता है और उस समय मैं आनंद की सीमा के उसपार पहुँच जाता हूँ जब दर्शक लोग उठकर जाना चाहते हैं पर संकोच के मारे जल्दी उठते नहीं। यदि उनके मन की तसवीर कोई चित्रकार खींच दे तो मनोविज्ञान के खोजियों के लिए एक अनोखी वस्तु मिल जाय।

हाँ, तो एक दिन हाकी खेलकर आया। कपड़े उतारे, स्नान किया। शाम को भोजन कर लेने की मेरी आदत है, पर आज मैच में रेफ्रेशमेन्ट जरा ज्यादा खा गया था इसलिए भूख न थी। श्रीमती जी ने खाने को पूछा। मैंने कह दिया कि आज स्कूल में मिठाई खाकर आया हूँ, कुछ विशेष भूख नहीं है। उन्होंने कहा—"विशेष न सही,

साधारण सही। मुझे आज सिनेमा जाना है। तुम अभी खा लेते तो अच्छा था। संभव है, मेरे आने में देर हो।" मैंने फिर इनकार नहीं किया, उस दिन थोड़ा ही खाया। बारह पूरियाँ थीं और वही रोज वाली आध पाव मलाई। मलाई खा चुकने के बाद पता चला कि 'प्रसाद' जी के यहाँ से बाग बाजार का रसगुल्ला आया है। रस तो होगा ही। कल तक संभव है, कुछ खट्टा हो जाय। छः रसगुल्ले निगलकर मैंने चारपाई पर धरना दिया। रस-गुल्ले छायावादी कविताओं की भाँति सूक्ष्म नहीं थे, स्थूल थे। एकाएक तीन बजे रात को नींद खुली। नाभि के नीचे दाहिनी ओर पेट में मालूम पड़ता था, कोई बड़ी बड़ी सुइयाँ लेकर कोंच रहा है। परन्तु मुझे भय नहीं मालूम हुआ, क्योंकि ऐसे ही समय के लिए औषधियों का राजा, रोगों का रामबाण, अमृतधारा की एक शीशी सदा मेरे पास रहती है। मैंने तुरन्त उसकी कुछ बूंदें पान कीं। दोबारा दवा पी। तिबारा। पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा की सार्थकता उसी समय मुझे मालूम हुई। प्रातःकाल होते होते शीशी समाप्त हो गई। दर्द में किसी प्रकार कमी न हुई। प्रातःकाल एक डाक्टर के यहाँ आदमी भेजना पड़ा।

राय बहादुर डाक्टर विनोदबिहारी मुकर्जी यहाँ के बड़े नामी डाक्टर हैं। पहले जब प्रैक्टिस नहीं चलती थी तब आप लोगों के यहाँ मुफ्त जाते थे। वहाँ से पता चला कि डाक्टर साहब नौ बजे ऊपर से उतरते हैं। इसके पहले वे कहीं जा नहीं सकते। लाचार दूसरे के पास आदमी भेजना पड़ा। दूसरे डाक्टर साहब सरकारी अस्पताल के सब-असिस्टेंट थे। वे एक एक्के पर तशरीफ लाये। सूट तो वे ऐसा ही पहने हुए थे कि मालूम पड़ता था, प्रिंस आफ वेल्स के वेलेटों में हैं। ऐसे सूटवाले का एक्के पर आना वैसा ही मालूम हुआ जैसा लीडरों का मोटर छोड़कर पैदल चलना। मैं अपना पूरा हाल भी न कहने पाया था कि आप बोले, जबान दिखलाइए। प्रेमियों को जो मजा प्रेमिकाओं की आँख देखने में आता है, शायद वैसा ही डाक्टरों को मरीजों की जीभ देखने में आता है। डाक्टर महोदय मुसकराये। बोले घबराने की कोई बात नहीं है। दवा पीजिए। दो खुराक पीते पीते आपका दर्द वैसे ही गायब हो जायगा, जैसे हिन्दुस्तान से सोना गायब हो रहा है। मैं तो दर्द से बेचैन था। डाक्टर साहब साहित्य का मजा लूट रहे थे। चलते चलते बोले, अभी अस्पताल खुला न होगा नहीं तो आपको दवा मँगानी न पड़ती। खैर, चन्द्रकला फारमेसी से दवा मँगवा लीजिएगा। वहाँ दवाइयाँ ताजा मिलती हैं। बोतल में पानी गर्म करके सेंकिएगा। दवा पी गई। गर्म बोतलों से सेंक भी आरंभ हुई। सेंकते सेंकते छाले पड़ गये। पर दर्द में कमी न हुई।

दोपहर हुआ, शाम हुई। पर दर्द ने मुझसे ऐसा प्रेम दिखलाया कि हटने का नाम दूर। लोग देखने के लिए आने लगे। मेरे घर पर मेला लगने लगा। ऐसे ऐसे लोग आये कि कहाँ तक लिखूँ। हाँ, एक विशेषता थी। जो आता, एक न एक नुसखा अपने साथ लेता आता था। किसी ने कहा, अजी, कुछ नहीं हींग पिला दो, किसी ने कहा, चूना खिला दो। खाने के लिए सिवा जूते के और कोई चीज बाकी नहीं रह गई, जिसे लोगों ने न बताई हो। यदि भारतीय सरकार को मालूम हो जाय कि देश में इतने डाक्टर हैं तो निश्चय है कि सारे मेडिकल कालेज तोड़ दिये जायँ। इतने खर्च की आखिर आवश्यकता ही क्या है?

कुछ समझदार लोग भी आते थे जो इस बात की बहस छेड़ देते थे कि असहयोग-आन्दोलन सफल होगा कि नहीं, ब्रिटिश नीति में कितनी सचाई है, विश्व आर्थिक सम्मेलन में अमेरिका का भाषण बहुत स्वार्थपूर्ण हुआ इत्यादि। मैं इस समय केवल स्मरण-शक्ति से काम ले रहा हूँ। तीन दिन बीत गये। दर्द में कमी न हुई। कभी कभी कम हो जाता था; बीच बीच में जोरों का हमला हो जाता था, मानो चीन-जापान का युद्ध हो रहा हो।

तीसरे दिन तो यह मालूम होता था कि मेरा घर क्लब बन गया है। लोग आते मुझे देखने के लिए, पर चर्चा छिड़ती थी कि पंडित बनारसीदास ने इस बार किसको पछाड़ा, प्रसाद जी का अमुक नाटक स्टेज की दृष्टि से कैसा है, हिन्दी के दैनिक पत्रों में बड़ी अशुद्धियाँ रहती हैं, अब देश में अनारकिस्ट नहीं रह गये हैं, लार्ड विलिंगडन अब ब्रूकबांड चाय नहीं पीते, छतारी के नवाब टेढ़ी टोपी क्यों लगाते हैं और राय कृष्णदास हफ्ते

में नौ बार दाढ़ी क्यों बनवाते हैं, अर्थात् लार्ड विलिंगडन और महात्मा गाँधी से लेकर रामजियावनलाल पटवारी तक की आलोचना यहाँ बैठ कर लोग करते थे। और यहाँ दर्द की वह दर्दनाक हालत थी कि क्या लिखूँ। मुझे भी कुछ बोलना ही पड़ता था। ऊपर से पान और सिगरेट की चपत अलग, भला दर्द में क्या कमी हो। बीच बीच में लोग दवा की सलाह और डाक्टर बदलने की सलाह और कौन डाक्टर किस तरह का है, यह भी बतलाते जाते थे।

आखिर में लोगों ने कहा कि तुम कब तक इस तरह पड़े रहोगे। किसी दूसरे की दवा करो। लोगों की सलाह से डाक्टर चूहानाथ कतर जी को बुलाने की सब की सलाह हुई। आप लोग डाक्टर साहब का नाम सुनकर हँसेंगे। पर यह मेरा दोष नहीं है। डाक्टर साहब के मा-बाप का दोष है। यदि मुझे उनका नाम रखना होता तो अवश्य ही कोई साहित्यिक नाम रखता। परन्तु थे यथा नाम तथा गुण। आपकी फीस आठ रुपये थी और मोटर का एक रुपया अलग। आप लंदन के एफ० आर० सी० एस० थे।

कुछ लोगों का सौन्दर्य रात में बढ़ जाता है, डाक्टरों की फीस रात में बढ़ जाती है। खैर, डाक्टर साहब बुलाये गये। आते ही हमारे हाल पर रहम किया और बोले, मिनटों में दर्द गायब हुआ जाता है, थोड़ा पानी गरम कराइए, तब तक यह दवा मँगवाइए। एक पुर्जे पर आपने दवा लिखी। पानी गर्म हुआ। दो रुपये की दवा आई। डाक्टर बाबू ने तुरन्त एक छोटी सी पिचकारी निकाली, उसमें एक लम्बी सूई लगाई, पिचकारी में दवा भरी और मेरे पेट में वह सूई कोंच कर दवा डाली।

यह कह देना आसान है कि मेरा कलेजा निगाहों के नेजा के घुस जाने से रेजा रेजा हो गया है, अथवा उनका दिल बरुनी की बरछियों के हमले से टुकड़े टुकड़े हो गया है, पर अगर सचमुच एक आलपीन भी धँस जाय तो बड़े बड़े प्रेमियों को नानी याद आ जाय, प्रेमिकायें भूल जायें। डाक्टर साहब कुछ कहकर और मुझे सान्त्वना देकर चले गये। इसके बाद मुझे नींद आ गई और मैं सो गया। मेरी नींद कब खुली कह नहीं सकता, पर दर्द में कमी हो चली थी और दूसरे दिन प्रातःकाल पीड़ा रफू-चक्कर हो गई थी।

कोई दो सप्ताह मुझे पूरा स्वस्थ होने में लगे। बराबर डाक्टर चूहानाथ कतर जी की दवा पीता रहा। अठारह आने की शीशी प्रतिदिन आती रही। दवा के स्वादु का क्या कहना। शायद मुर्दे के मुख में डाल दी जाय तो वह भी तिलमिला उठे। पंद्रह दिन के बाद में डाक्टर साहब के घर गया। उन्हें धन्यवाद दिया। मैंने पूछा कि अब तो दवा पीने की कोई आवश्यकता न होगी। वे बोले —यह तो आपकी इच्छा पर है। पर यदि आप काफी एहतियात न करेंगे तो आपको 'अपेंडिसाइटीज' हो जायगा। यह दर्द मामूली नहीं था। असल में आपको 'सीलियो सेन्ट्रिक कोलाइटीज' हो गया था। और उससे 'डेवेलप' कर 'पेरिकार्डियल हाइड्रोट्यूलिक स्टमकालिस' हो जाता, फिर ब्रह्मा भी कुछ न कर सकते। मालूम होता है कि आपकी श्रीमती बड़ी भाग्यवती हैं। अगर छः घण्टे की देर और हो जाती तो उन्हें जिन्दगी भर रोना पड़ता। वह तो कहिए कि आपने मुझे बुला लिया। अभी कुछ दिनों आप दवा पीजिए।

डाक्टर महोदय ने ऐसे ऐसे मर्जों के नाम सुनाये कि मेरी तबीयत फड़क उठी। भला मुझे ऐसे मर्ज हुए जिनका नाम साधारण क्या बड़े पढ़े-लिखे लोग भी नहीं जानते। मालूम नहीं ये मर्ज सब डाक्टरों को मालूम हैं कि केवल हमारे डाक्टर चूहानाथ को ही मालूम हैं। खैर, मैंने दवा जारी रक्खी।

अभी एक सप्ताह भी पूरा न हुआ था कि दो बजे दिन को एकाएक फिर दर्दरूपी फौज ने मेरे शरीररूपी किले पर हमला कर दिया। डाक्टर साहब ने जिन जिन भयंकर मर्जों का नाम लिया था उनका स्वरूप मेरी रोती हुई आँखों के सामने नृत्य करने लगा। मैं सोचने लगा कि हुआ हमला किसी उन्हीं में से एक मर्ज का। तुरन्त डाक्टर साहब के यहाँ आदमी दौड़ाया गया कि इंजेक्शन का सामान लेकर चलिए। वहाँ से आदमी बिना माँगी पत्रिका की भाँति लौटकर आया कि डाक्टर साहब कहीं गये हैं। इधर मेरी हालत क्या थी उसका वर्णन यदि सरस्वती शार्टहैण्ड से भी लिखें तो संभवतः समाप्त न हो। एयरोप्लेन के पंखे की तेजी के समान तो करवटें बदल

रहा था। इधर मित्रों और घर वालों की कान्फरेंस हो रही थी कि अब कौन बुलाया जाय, पर 'डिसार्मामेन्ट कान्फरेंस' की भाँति कोई न किसी की बात मानता था, न कोई निश्चय ही हो पाता था। मालूम नहीं, लोगों में क्या क्या बहस हुई, कौन कौन प्रस्ताव फेल हुए, कौन कौन पास। जहाँ मैं पड़ा कराह रहा था उसी के बगल में लोग बहस कर रहे थे। कभी कभी किसी किसी की चिल्लाहट सुनाई दे जाती थी। बीमार मैं था, अच्छा-बुरा होना मुझे था, फीस मुझे देनी थी, परन्तु लड़ और लोग रहे थे। मालूम होता था कि उन्हीं लोगों में से किसी की जमींदारी कोई जबर्दस्ती छीने लिये जा रहा है। अन्त में हमारे मकान के बगल में रहने वाले पंडित जी की विजय हुई और आयुर्वेदाचार्य, रसज्ञरंजन, चिकित्सा-मार्तण्ड, प्रमेह-गज-पंचानन कविराज पंडित खुखड़ी शास्त्री के बुलाने की बात तय हुई। आधा घण्टा तो बहस में बीता। खैर, किसी तरह से कुछ तय हुआ। एक सज्जन उन्हें बुलाने के लिए भेजे गये। कोई पैंतालीस मिनट बीत गये, परन्तु वहाँ से न वैद्य जी आये, न भेजे गये सज्जन का ही पता चला। एक ओर दर्द इनकम टैक्स की तरह बढ़ता जा रहा था, दूसरी ओर इन लोगों का भी पता नहीं। और भी बेचैनी बढ़ी। अन्त में जो साहब गये थे लौटे। वे बोले, वैद्य जी ने बड़े गौर से पत्रा देखा और कहा कि अभी बुद्ध के क्रान्ति-वृत्त में शनि की स्थिति है, एकतीस पल नव विपल में शनि बाहर हो जायगा और डेढ़ घटी एकादशी का योग है उसके समाप्त होने पर मैं चलूँगा। आप आध घण्टे में आइएगा। सुनकर मेरा कलेजा कबाब हो गया। मगर वे कह आये थे, अतएव बुलाना भी आवश्यक था। मैंने फिर उन्हें भेजा। कोई आध घण्टे बाद वैद्य जी एक पालकी पर तशरीफ लाये। आकर आप मेरे सामने कुर्सी पर बैठ गये। आप धोती पहने हुए थे और कन्धे पर एक सफेद दुपट्टा डाले हुए थे। इसके अतिरिक्त शरीर पर सूत के नाम पर केवल जनेऊ था, जिसका रंग देखकर यह शंका होती थी कि कविराज जी कुश्ती लड़कर आ रहे हैं। वैद्य जी ने कुछ और न पूछा—पहले नाड़ी हाथ में ली। पाँच मिनट तक एक हाथ की नाड़ी देखी, फिर दूसरे हाथ की। बोले, 'वायु का प्रकोप है, यकृत से वायु घूमकर पित्ताशय में प्रवेश कर अन्त्र में जा पहुँची है। इससे मन्दाग्नि का प्रादुर्भाव होता है और इसी कारण जब भोज्य पदार्थ प्रतिहत होता है तब शूल का कारण होता है। संभव है, मूत्राशय में अश्मन भी एकत्र हो।' कविराज जी मालूम नहीं क्या बक रहे थे और मेरी तबीयत दर्द और क्रोध से एक दूसरे ही संसार में हो रही थी। आखिर मुझसे न रहा गया। मैंने एक सज्जन से कहा—जरा आलमारी में से आपटे का कोश तो लेते आइए। यह सुनकर लोग चकराये। कुछ लोगों को संदेह हुआ कि अब मैं अपने होश में नहीं हूँ। मैंने कहा—दवा तो पीछे होगी, मैं पहले समझ तो लूँ कि मुझे रोग क्या है? पंडित जी कहने लगे—बाबू साहब, देखिए आजकल के नवीन डाक्टरों को रोगों का निदान तो ठीक मालूम ही नहीं, चिकित्सा क्या करेंगे। अंग्रेजी पढ़े-लिखों को वैद्यक शास्त्र पर से विश्वास उठ गया है। परन्तु हमारे यहाँ ऐसी ऐसी औषधियाँ हैं कि एक बार मृत्युलोक से भी लौटा लें। मुहूर्त मिल जाना चाहिए। और अच्छा वैद्य मिल जाना चाहिए। इसके पश्चात् वैद्य जी चरक, सुश्रुत, रसनिघण्टु, भेषजदीपिका, चिकित्सा-मार्तण्ड के श्लोक सुनाने लगे। और अन्त में कहा—देखिए, मैं दवा देता हूँ और अभी आपको लाभ होगा। परन्तु इसके पश्चात् आपको पर्पटी का सेवन करना होगा। क्योंकि आपका शुक्र मन्द पड़ गया है। गोमूत्र में आप पर्पटी का सेवन कीजिए, फिर देखिए दर्द पारद के समान उड़ जायगा और गन्धक के समान भस्म हो जायगा। लिखा है—

गोमूत्रेण समायुक्ता रसपर्पटिकाशिता।
माससमात्रप्रयोगेण शूलं सर्वं विनाशयेत्॥

मैंने कहा:—शुक्र अस्त नहीं हो गया, यही क्या कम है। पंडित जी गोमूत्र पिलाइए और गोबर भी खिलाइए। शायद आप लोगों के शास्त्र में और कोई भोजन रह ही नहीं गया है। इसी कारण से आप लोगों के दिमाग की बनावट भी विचित्र है। खैर, पंडित जी ने दवा दी। कहा कि अदरख के रस में इस औषधि का सेवन करना होगा। खैर साहब फीस दी गई। किसी प्रकार वैद्य जी से पिण्ड छूटा। दो दिन दवा की गई। कभी कभी तो कम अवश्य हो जाता था, पर पूरा दर्द न गया। सी० आई० डी० के समान पीछा छोड़ता ही न था। वैद्य जी के

यहाँ जब आदमी जाता तब कभी रविवार के कारण, कभी प्रदोष के कारण और शायद त्रिदोष के कारण ठीक समय से दवा ही नहीं देते थे।

अब वैसी बेचैनी नहीं रह गई थी, पर बलहीन होता गया। खाना-पीना भी ठीक मिलता ही न था। चारपाई पर पड़ा रहने लगा। दिन को मित्रों की मण्डली आती थी। वह आराम देती थी कम, दिमाग चाटती थी अधिक। कभी कभी दूर दूर से रिश्तेदार भी आते थे। और सब लोग डाक्टरों को गाली देकर और मुझे बिना माँगी सलाह देकर चले जाते थे। मैं चारपाई पर 'इन्टर्न' था। आखिर मेरा विचार हुआ कि फिर डाक्टर साहब की याद की जाय। जिस समय में यह जिक्र कर रहा था, एक 'कांग्रेसमैन' बैठे हुए थे। ये सज्जन अभी जेल से लौटे थे। मुझे देखने के लिए तशरीफ लाये थे। बोले, "साहब, आप लोगों को देश का हर समय ध्यान रखना चाहिए। ये डाक्टर सिवा विलायती दवाओं के ठीकेदार के और कुछ नहीं होते। इनके कारण ही विलायती दवायें आती हैं। आप किसी भारतीय हकीम अथवा वैद्य को दिखलाइए।" ऐसी खोपड़ी वालों से में क्या बहस करता ? मैंने मन में सोचा कि वैद्य महाराज को तो मैंने देख ही लिया। कुछ और रुपयों पर ग्रह आया होगा, हकीम भी सही। एक की सलाह से मसीकुल हिन्द, बुकराते जमाँ, सुकरातुश्शफा जनाब हकीम सैयद आलुए बुखारा साहब के यहाँ आदमी भेजा। आप फौरन तशरीफ लाये। इस जमाने में भी जब तेज से तेज सवारियों का प्रबन्ध सभी जगह मौजूद है, आप पालकी में चलते हैं। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि पालकी रख दी जाती है अथवा कहार कन्धे पर ले लेता है और हकीम साहब उसमें टहला करते हैं। मेरा मतलब यह है कि जब किसी के यहाँ आप बुलाये जाते हैं तब पालकी के भीतर बैठ कर आप जाते हैं।

हकीम साहब आये। यद्यपि मैं अपनी बीमारी का जिक्र और अपनी बेबसी का हाल लिखना चाहता हूँ, पर हकीम साहब की पोशाक और उनके रहन-सहन तथा फैशन का जिक्र न करना मुझसे न हो सकेगा। सर्दी बहुत तेज नहीं थी। बनारस में यों भी तेज सर्दी नहीं पड़ती। फिर भी ऊनी कपड़ा पहनने का समय आ गया था। परन्तु हकीम साहब चिकन का बन्ददार अंगा पहने हुए थे। सिर पर बनारसी लोटे की तरह टोपी रक्खी हुई थी। पाँव में पाजामा ऐसा मालूम होता था कि चूड़ीदार पाजामा बनने वाला था, परन्तु दर्जी ईमानदार था। उसने कपड़ा चुराया नहीं, सब का सब लगा दिया, अथवा यह भी हो सकता है कि ढीली-मोहरी के लिए कपड़ा दिया गया हो और दर्जी ने कुछ कतर-ब्योंत की हो और चुस्ती दिखाई हो। जूता कामदार दिल्लीवाला था। मोजा नहीं था। रूमाल इतना बड़ा था कि अगर उसमें कसीदा कढ़ा न होता तो मैं समझता कि यह रूमाल मुँह अथवा हाथ पोंछने के लिए नहीं, तरकारी बाँधने के लिए है। हकीम साहब के दाढ़ी के बाल ठुड्डी की नोक ही पर इकट्ठे हो गये थे। मालूम होता था, हजामत बनाने का बुरूश है। हकीम साहब पतले दुबले इतने थे कि मालूम पड़ता था, अपनी तन्दुरुस्ती आपने अपने मरीजों को बाँट दी है। हकीम साहब में नजाकत भी बला की थी। रहते थे बनारस में, मगर कान काटते थे लखनऊ के।

आते ही मैंने सलाम किया, जिसका उत्तर उन्होंने मुस्कराते हुए बड़े अन्दाज से दिया और बोले मिजाज कैसा है ?

मैंने कहा—"मर रहा हूँ। बस, आपका ही इन्तिजार था। अब यह जिन्दगी आपके ही हाथों में है।"

हकीम साहब ने कहा—या रब ! आप तो ऐसी बात करते हैं गोया जिन्दगी से बेजार हो गये हैं। भला ऐसी गुफ्तगू भी कोई करता है। मरें आपके दुश्मन। नब्ज तो दिखलाइए। खुदावन्दकरीम ने चाहा तो आननफानन में दर्द रफूचक्कर होगा।

मैंने कहा—अब आपकी दुआ है। आपका नाम बनारस ही नहीं, हिन्दुस्तान में लुकमान की तरह मशहूर है, इसीलिए आपको तकलीफ दी गई है।

दस मिनट तक हकीम साहब ने नब्ज देखी। फिर बोले, मैं यह नुसखा लिखे देता हूँ। इसे इस वक्त आप-पीजिए, इन्शा अल्लाह जरूर शफा होगी। मैंने बगौर देख लिया। लेकिन आपका मेदा साफ नहीं है। और सारे फसाद की बुनियाद यही है।

मैंने कहा—तो बुनियाद उखाड़ डालिए। किस दिन के लिए छोड़ रहे हैं।

हकीम आलू बुखारा साहब बोले—तो आप मुसहिल[†] ले लीजिए। पाँच रोज तक मुंजिज पीना होगा, इसके बाद मुसहिल। इसके बाद मैं एक माजून लिख दूँगा। उसमें जोफ[‡] दिल, जोफ दिमाग, जोफ जिगर, जोफ मेदा, जोफ चश्म, एक की रियायत रहेगी। मुझसे न रहा गया। मैं बोला, कई जोफ आप छोड़ गये, इसे कौन अच्छा करेगा। हकीम साहब ने कहा, जब तक मैं हूँ, आप कोई फिक्र न कीजिए।

एक सज्जन ने उनके हाथों में फीस रक्खी। हकीम साहब चलने को तैयार हुए। उठे। उठते उठते बोले, जरा एक बात का ख्याल रखिएगा कि आजकल दवाइयाँ लोग बहुत पुरानी रखते हैं। मेरे यहाँ ताजा दवाइयाँ रहती हैं।

मैंने उनकी दवा उस दिन पी। वह कटोरा भर दवा जिसकी महक रामघाट के सिवर से कम्पिटीशन के लिए तैयार थी, किसी प्रकार गले के नीचे उतार गया, जैसे अहल्कार लोग अँगरेजों की डाँट निगल जाते हैं। दूसरे दिन मुंजिज आरंभ हुआ। उसका पीना और भी एक आफत थी। मालूम पड़ता था, भरतपुर के किले पर मोरचा लेना है। मेरी इच्छा हुई कि उठा कर गिलास फेंक दूँ, पर घरवाले जेल के पहरुओं की भाँति सिर पर सवार रहते थे। चौथे दिन मुसहिल की बारी आई। एक बड़े से मिट्टी के बधने से दवा मुझे पीने को दी गई। शायद दो सेर के लगभग रही होगी। एक घूँट गले के नीचे उतरा होगा कि जान बूझकर मैंने करवा गिरा दिया। बधना गिरते ही असफल प्रेमी के हृदय की भाँति चूर चूर हो गया और दवा होली के रंग के समान सबकी धोतियों पर जा पड़ी। उस दिन के बाद से हकीम साहब की दवा मुझे पिलाने का फिर किसी को साहस न हुआ। खेद इतना ही रह गया कि उसी के साथ हकीम साहब वाला माजून भी जाता रहा।

दर्द फिर कम हो चला। परन्तु दुर्बलता बढ़ती जाती थी। कभी कभी दर्द का दौरा अधिक वेग से हो जाता था। अब लोगों को विशेष चिन्ता मेरे सम्बन्ध में नहीं रहती थी। कहने का मतलब यह है कि लोग देखने-सुनने कम आते थे। वही घनिष्ट मित्र आते थे। घर वालों को और मुझे भी दर्द के सम्बन्ध में विशेष चिन्ता होने लगी। कोई कहता था कि लखनऊ जाओ, कोई एक्स-रे का नाम लेता था। किसी किसी ने राय दी कि जल-चिकित्सा कीजिए। एक सज्जन ने कहा, यह सब कुछ नहीं, आप होमियोपैथी इलाज शुरू कीजिए, देखिए कितनी शीघ्रता से लाभ होता है। बोले—साहब इन नन्हीं नन्हीं गोलियों में मालूम नहीं कहाँ का जादू है। साहब जादू का काम करती हैं, जादू का।

एक नेचर-क्योर वाले ने कहा कि आप गीली मिट्टी पेट पर लेपकर धूप में बैठिए, एक हफ्ते में दर्द हवा हो जायगा। हमारे ससुर साहब एक डाक्टर को लेकर आये। उन्होंने कहा, देखिए साहब! आप पढ़े-लिखे आदमी हैं। समझदार हैं—मैं बीच में बोल उठा, समझदार न होता तो भला आपको कैसे यहाँ बुलाता।

डाक्टर महोदय ने कहा—दवा तो नेचर की सहायता करने के लिए होती है। आप कुछ दिनों तक अपना 'डायट' बदल दीजिए। मैंने इसी 'डायट' पर कितने ही रोगियों को अच्छा किया है। मगर हम लोगों की सुनता कौन है। असल में आप में विटेमिन 'एफ' की कमी है। आप नीबू, नारंगी, टमाटो, प्याज, धनिया के रस में सलाद भिगोकर खाया कीजिए। हरी हरी पत्तियाँ खाया कीजिए। मैंने पूछा—पत्तियाँ खाने के लिए पेड़ पर चढ़ना होगा। अगर इसके बजाय घास बतला दें तो अच्छा हो। जमीन पर ही मिल जायगी।

इसी प्रकार जो आता इतनी हमदर्दी दिखलाता था कि एक डाक्टर या हकीम या वैद्य अपने साथ लेता आता था।

खाने के लिए साबूदाना ही मेरे लिए अब न्यामत थी। ठण्डा पानी मिल जाता था, यह परमात्मा की दया थी। तीन बजे एक पंडित जी महाराज आकर एक पोथी में से बड़ बड़ पाठ किया करते थे और मेरा मग्ज खाते थे। शाम को एक पंडित और आकर मेरे हाथ में कुछ धूल रख जाते कि महामृत्युञ्जय का प्रसाद है। इसी बीच में मेरी नानी की मौसी मुझे देखने आईं। उन्होंने बड़े प्रेम से देखा। देखकर बोलीं, मैं तो पहले ही सोच रही थी कि यह कुछ उपरी खेल है। मैंने पूछा, यह उपरी खेल क्या है नानी जी। बोलीं—बेटा सब कुछ किताब में ही थोड़े लिखा रहता है। बात यह है किसी चुड़ैल का फसाद

[†]जुलाब— [‡]जोफ—कमजोरी

है। मेरी स्त्री और माता की ओर दिखाकर कहने लगीं, देखो न इसकी बरौनी कैसी खड़ी है। कोई चुड़ैल लगी है। किसी को दिखा देना चाहिए। मैंने कहा, डाक्टर तो मेरी जान के पीछे लग गये हैं। क्या चुड़ैल उनसे भी बढ़कर होगी। जब सब लोग चले गये तब मेरी स्त्री ने कहा, तुम लोगों की बात क्यों नहीं मान लिया करते? कुछ हो या न हो, इसमें तुम्हारा हर्ज ही क्या है। कुछ खाने की दवा तो देंगे नहीं। परमात्मा की आज्ञा तो टाली जा सकती है, परन्तु अपनी या मैं तो कहूँगी किसी भले आदमी की स्त्री की आज्ञा कोई भला आदमी नहीं टाल सकता। मैंने कहा, तुम लोगों को जो कुछ करना है करो, मगर मेरे पास किसी को मत बुलाना। कोई ओझा या भूत का पचड़ा मेरे पास लेकर आया तो वही सन् २६ में मुजफ्फरपुर सम्मेलन में जो चप्पल पहनकर गया था उसी से मैं उठकर मरम्मत करने लगूँगा। श्रीमती जी बोलीं, अजी वह कोई ओझा थोड़े ही हैं। एम० ए० पास हैं। कुछ समझ होगी तभी तो यह काम करते हैं। कितनी स्त्रियाँ रोज उनके पास जाती हैं, कितने पुरुष जाते हैं। बड़े वैज्ञानिक ढंग से उन्होंने इसका अन्वेषण किया है।

मेरे दर्द में किसी विशेष प्रकार की कमी न हुई। ओझा से तो किसी प्रकार की आशा क्या करता। पर बीच बीच में दवा भी होती जाती थी। अन्त में मेरे साले साहब ने बड़ा जोर दिया कि यह सब झेलना इसीलिए है कि तुम ठीक दवा नहीं करते। होमियोपैथी चिकित्सा शुरू करो, सारी शिकायत गंजों के बाल की तरह गायब हो जायगी। मैंने भी कहा, मुर्दे पर जैसे बीस मन वैसे पचास। ऐसा न हो कि कोई कह दे कि अमुक 'सिस्टम' का इलाज छूट गया। अब यह राय होने लगी कि कौन होमियोपैथ को बुलाया जाय। हमारे मकान से कुछ दूर एक होमियोपैथ डाकिया था। दिन भर चिट्ठी बाँटता था। सवेरे और शाम दो पैसे पुड़िया दवा बाँटता था। सैकड़ों मरीज उसके यहाँ जाते। बड़ी प्रेक्टिस थी। एक और होमियोपैथ थे। चार पैसे फर्मा दिन में पुस्तकों का अनुवाद करते थे और प्रातः-सायं होमियोपैथी से चार छः आने पैदा कर लेते थे। एक मास्टर भी थे जो कहा करते थे कि सच पूछो तो जैसी होमियोपैथी मैंने स्टडी की है, किसी ने नहीं की। कुछ बहस के बाद एक डाक्टर का बुलाना निश्चित हुआ। डाक्टर महोदय आये। आप भी बंगाली थे। आते ही सिर से पाँव तक मुझे तीन चार बार ऐसे देखा मानो मैं हानोलूलू से पकड़कर लाया गया हूँ और खाट पर लिटा दिया गया हूँ। इसके पश्चात् मेडिकल सनातनधर्म के अनुसार मेरी जीभ देखी। फिर पूछा, दर्द ऊपर से उठता है कि नीचे से, बाँये से कि दाँये से; नोचता है कि कोंचता है; चिकोटता है कि बकोटता है; मरोड़ता है कि खरबोटता है। मैंने कहा कि मैंने दर्द की फिल्म तो उतरवाई नहीं है। जो कुछ मालूम होता है, मैंने आप से कह दिया। डाक्टर महोदय बोले—बिना सिमटाम के देखे कैसे दवा देने सकता है। एक एक दवा का भेरियस सिमटाम होता है। फिर मालूम नहीं कितने सवाल मुझसे पूछे। इतने सवाल तो आई० सी० एस० के 'वाइवावोसी' में भी नहीं पूछे जाते। पर कुछ प्रश्न यहाँ अवश्य बतला देना चाहता हूँ। मुझसे पूछा—तुम्हारे बाप के चेहरे का रंग कैसा था। कै बरस से तुमने सपना नहीं देखा। जब चलते हो तब नाक हिलती है या नहीं। किसी स्त्री के सामने खड़े होते हो तब दिल धड़कता है कि नहीं? जब सोते हो तब दोनों आँखें बन्द रहती हैं कि एक। सिर हिलाते हो तो खोपड़ी में खट खट आवाज आती है कि नहीं। मैंने कहा—आप एक शार्ट हैण्ड राइटर भी साथ लेकर चलते हैं कि नहीं। इतने प्रश्नों का उत्तर देना मेरे लिए असम्भव है।

फिर डाक्टर बाबू ने पचीसों पुस्तकों का नाम लिया और बोले—फेरिंगटन यह कहते हैं, नैश यह कहते हैं, क्लार्क के हिसाब से यह दवा होगी। डाक्टर साहब पंद्रह-बीस पुस्तकें भी लाये थे। आध घण्टे तक उन्हें देखते रहे। तब दवा दी। आपकी दवा से कुछ लाभ अवश्य हुआ, पर पूरा फायदा न हुआ। मैंने अब पक्का इरादा कर लिया कि लखनऊ जाऊँ। जो बात काशी में नहीं हो सकती, लखनऊ में हो सकती है। वहाँ सभी साधन हैं।

सब तैयारी हो चुकी थी कि इतने में एक और डाक्टर को एक मेहरबान लिवा लाये। उन्होंने देखा, कहा—जरा मुँह तो देखूँ। मैंने कहा मुँह-जीभ जो चाहें देखिए। देख कर बड़े जोर से हँसे। मैं घबराया। ऐसी हँसी केवल कवि-सम्मेलन में बेढंगी कविता पढ़ने के समय सुनाई देती है। मैं चकित भी हुआ। डाक्टर बोले, किसी डाक्टर को यह

सूझी नहीं। तुम्हें 'पाइरिया' है। उसी का जहर पेट में जा रहा है और सब फसाद पैदा कर रहा है। मैंने कहा—तब क्या करूँ? डाक्टर साहब ने कहा—इसमें करना क्या है? किसी डेंटिस्ट के यहाँ जाकर सब दाँत निकलवा दीजिए। मैंने अपने मन में कहा—आपको तो यह कहने में कुछ कठिनाई ही नहीं हुई। गोया दाँत निकलवाने में कोई तकलीफ ही नहीं होती। खैर, रात भर मैंने सोचा। मैंने भी यही निश्चय किया कि यही डाक्टर ठीक कहता है। डेंटिस्ट के यहाँ से पुछवाया। उसने कहलाया कि तीन रुपये फी दाँत तुड़वाने में लगेंगे। कुल दाँतों के लिए छानबे रुपये लगेंगे। मगर मैं आपके लिए छः रुपये छोड़ दूँगा। इसके अतिरिक्त दाँत बनवाई डेढ़ सौ अलग। यह सुनकर पेटके दर्द के साथ सिर में भी चक्कर आने लगा। मगर मैंने सोचा कि जान सलामत है तो सब कुछ। इतना और खर्च करो। श्रीमती से मैंने रुपये माँगे। उन्होंने पूछा—क्या होगा? मैंने सारा हाल कह दिया। वे बोलीं—तुम्हारी बुद्धि कहीं घास चरने गई है क्या? किसी कवि का तो साथ नहीं हो गया कि ऐसी बातें सूझने लगी हैं। आज कोई कहता है दाँत उखड़वा डालो। कल कोई कहेगा सारे बाल उखड़वा डालो; परसों कोई डाक्टर कहेगा नाक नोचवा डालो, आँख निकलवा दो। यह सब फजूल है। तुम सुबह टहला करो, किसी एक भले डाक्टर की दवा करो। खाना ठिकाने से खाओ। पंद्रह दिन में ठीक हो जाओगे। मैंने सबका इलाज भी देख लिया। मैंने कहा तुम्हें अपनी ही दवा करनी थी तो इतने रुपये क्यों बरबाद कराये?

कुछ दिन के बाद मैंने समझा कि स्त्रियों में भी बुद्धि होती है—विशेषतः बीस साल की आयु के बाद।

१९३४

❀ ❀ ❀

गरीबों का स्वर्ग

श्री श्रीनाथ सिंह

(१)

यदि जीने की इच्छा का अन्त हो जाय तो मनुष्य एक मिनट भी जीवित नहीं रह सकता। अपनी साधारण गति से मौत न आये तो ऐसा मनुष्य आत्म-हत्या करके मर सकता है। रमेश कोशिश करने पर भी आत्म-हत्या न कर सका, इसका कारण कदाचित् यही था, कि अभी वह अपने लिए नहीं, तो कम से कम अपनी स्त्री रानी के लिए जीवित रहना चाहता था।

तीस वर्ष का नवयुवक, हाथ-पाँव मजबूत, दिल-दिमाग दुरुस्त, जीवन को उत्साह से पूरित करने के लिए सर्व-गुण-सम्पन्न नारी का घर में निवास! तने पर भी वह संसार से विरक्त क्यों है? इस प्रश्न पर उसने बहुत बार बहुत तरह से विचार किया, पर उसे कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिला।

उसके हृदय में कोई बहुत बड़ी महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। और होती कैसे? सारा समय सिर्फ एक सवाल के हल करने में चला जाता था। वह सवाल था अपने और रानी के लिए पेट भर भोजन प्राप्त करना। गाँव के बाहर अपने विस्तृत खेतों के स्लेट पर अपने परिश्रम की पेंसिल से वह रोज सवेरे यह सवाल हल करने को जुटता था और शाम तक जुटा रहता था। परन्तु ज्यों ज्यों उसने अपना परिश्रम करना बढ़ाया, त्यों त्यों यह प्रश्न भी जटिल होता गया।

बचपन में उसने अच्छे दिन देखे थे। अच्छे से मतलब है कभी कभी उसे पेट भर भोजन मिल जाता था। घी और दूध के स्वाद, की भी उसे थोड़ी बहुत याद बनी थी। परन्तु वह मा-बाप की बदौलत था, जिन्होंने अपने यौवन को खेतों पर निछावर करके उसके लिए सुख के दिन प्राप्त किये थे। किसी के मा-बाप सदैव नहीं रहते और रमेश के भी नहीं रहे।

इधर गल्ला सस्ता हो जाने से कठिनाइयाँ दूनी हो

गईं। खेतों पर जमींदार का हक था। कई पुश्त जोतने पर भी उसका मौरूसी अधिकार नहीं जम सका था। इससे जमींदार मनमाना लगान वसूल करता था और उसे भख मारकर देना पड़ता था। न देता तो करता क्या? किसान का लड़का था। बिना मेहनत किये वह रह भी तो नहीं सकता था।

प्रतिवर्ष साल के अन्त में इतना कर्ज इकट्ठा हो जाता कि उसे सारी उपज खलिहान में ही महाजन के हवाले कर देनी पड़ती। जैसे अन्य सब किसान नया अन्न नहीं, नई चिन्ताओं का बोझ लेकर घर लौटते, वैसे ही वह भी खाली मन और खाली हाथ घर लौटता। क्रमशः हालत बिगड़ती गई। बैल बिके, जानवर नीलाम हुए, थाली-लोटा कुर्क हुआ। केवल छप्पर और छप्पर के नीचे वह और रानी, दो व्यक्ति शेष रहे।

इतने पर भी किसी तरह उसने खेती का काम जारी रखा। मँगनी के बैल मिल गये। पत्तलों और मिट्टी के बर्तनों से खाने पीने का काम चलता रहा। इस बार भी सदा की भाँति जब तक फसल खड़ी रही उसकी आशा बँधी रही। शाम को थका-माँदा जब घर आता तब रानी से कहता—राम चाहेगा तो इस साल सावन तक चूल्हा सुलगेगा और उसके बाद साँवा-मकरा हो जायगा।

इस पर स्त्री कहती—पेट तो किसी तरह जिआ लेंगे, पर लाज रखने के लिए कपड़ा!

इस पर दोनों चुप हो जाते। फिर कुछ इसी तरह की बातें करते। जाड़े की रातें थीं। यथेष्ट कपड़े थे नहीं। बेचारे आग के सहारे इसी प्रकार की बातों में ही बिता देते।

होली पर रमेश पके हुए गेहूँ लाया और रानी ने उसी दिन कूट-पीस कर, पहले से रक्खे हुए थोड़े से सरसों तेली के यहाँ से तेल में बदल कर, तेल की पूड़ियाँ बनाईं। पीने को भङ्ग नहीं मिली, न सही, लगाने को अबीर नहीं मिला न सही, कपड़ों पर रंग के छींटे नहीं पड़े न सही, पेट तो भरा। और रमेश जब खाने बैठा, बोला—बड़ी स्वादिष्ट हैं, मानो घी की हों। रानी तेरे बनाने की तारीफ है। पड़ोसी के लड़के को दो पूड़ियाँ जरूर दे देना। कौन जाने शायद उनके यहाँ चूल्हा भी न जला हो। बेचारा लड़का कैसे जानेगा कि आज होली का त्योहार है।

"वह तो सवेरे ही खा गया।"

"धन्य रानी! तू बड़ी दयावान् है। मेरी एक बात सुनेगी।"

"कहो"

"कौन जाने अब कब पूड़ियाँ बनें, इसलिए आज मेरे साथ बैठ कर दो पूड़ियाँ खा ले।"

"नहीं, पूड़ियाँ बहुत हैं। तुम खा लो, फिर म खाऊँगी।"

फसल कटकर खलिहान में पहुँची। जिस दिन गल्ला तैयार हुआ, महाजन भी जा डटा। साल भर का हिसाब जोड़ा गया तब मालूम हुआ कि रमेश दो मन घर से दे तो पूरा पड़े। यह दो मन नये कर्ज के रूप में लिखकर महाजन ने सारा गल्ला अपने अधिकार में कर लिया।

रात को रमेश अपने भूसा पर लेटा और महाजन का नौकर रमेश के गल्ले पर।

चैत की चाँदनी रात थी। दूर से फूलों की सुगन्ध आ रही थी। सब किसान अपने अपने खलिहान में मस्त पड़े सो रहे थे। केवल रमेश जग रहा था। उसकी सम्पत्ति आज उससे छिन गई थी। उसे कैसे नींद आती?

पड़ा पड़ा वह अपनी मुसीबतों पर सोचता रहा और अपने भूसे के ढेर से अपने गल्ले की ओर बड़ी देर तक इस तरह टकटकी बाँध कर देखता रहा जैसे दुहे जाने के समय गाय का बछड़ा अपनी माँ के थन की ओर देखता है। रमेश को किसी तरह यह विश्वास न हुआ कि वह गल्ला उसका नहीं है। बोया उसने, सींचा उसने, काटा उसने, माड़ा उसने और मालिक बन गया महाजन। क्योंकि महाजन ने उसे कर्ज दिया था, फिर जितना दिया था उसका ड्योढ़ा ले गया। यह कहाँ का न्याय है?

रमेश के जी में आया सब लोग सो रहे हैं। क्यों न जितना एक बार में ले जा सकूँ ले जाकर घर में रख आऊँ। दूसरे ही क्षण उसके हृदय में आवाज उठी, क्यों चोरी करोगे। ईश्वर देख रहा है। मनुष्य की आँख बचा-कर निकल सकते हो, पर ईश्वर से बचकर कहाँ जाओगे?

पेट में भूख की ज्वाला स्त्री की चिन्ता के साथ प्रज्वलित हो उठी। उसने कहा ईश्वर कोई चीज नहीं।

और भूखे को ईश्वर से क्या मतलब ? यदि ईश्वर है तो वह भूखे को भोजन क्यों नहीं देता ?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक को प्रमाणित करने के लिए धर्म-शास्त्र-पारङ्गत काशी का कोई पंडित वहाँ न था। कल की चिन्ता ने जोर मारा और रमेश बिना विशेष तर्क-वितर्क किये उठकर अपने भाबे में गल्ला भरने लगा।

ज्यों ही वह लेकर चला, महाजन का नौकर जाग कर और चोर चोर कह कर चिल्लाने लगा। ईश्वर ने जिसे नहीं गिरफ्तार किया था उसे मनुष्य ने पकड़ लिया।

बात की बात में वहाँ अनेक आदमी जमा हो गये। किसी ने रमेश को बुरा-भला कहा, किसी ने उसे मारा। महाजन के नौकरों ने रस्से से पीछे की ओर उसके दोनों हाथों को बाँध दिया और उसे घसीटते हुए रातों रात थाने की ओर ले चले।

रानी भी रोती-सिसकती वहाँ आई। उसने कहा—महाजन डेढ़ी लेता है, उसे कोई नहीं पकड़ता। और किसान अपनी कमाई में से थोड़ा भी लेने लगता है तो बाँधा जाता है। पर उसकी कौन सुनता।

चाँदनी रात में असमर्थ रमेश और उससे भी अधिक असमर्थ उसकी स्त्री ने एक दूसरे को देखा। दोनों की आँखों में आँसू और चेहरे पर घोर उदासी छाई हुई थी। वसन्त-ऋतु की उस चाँदनी को जरा भी दया न आई। उसने दोनों प्रेमियों को बलपूर्वक एक दूसरे से अलग कर दिया।

(२)

सवेरा हुआ। साल भर की कमाई आज घर आने वाली थी। परन्तु कमाई के साथ रानी कमाने वाले को भी आज गँवा बैठी थी। ऐसे अवसरों पर गाँवों में खास कर स्त्रियों में सहानुभूति की कमी नहीं होती। पास-पड़ोस की स्त्रियाँ रानी के घर आ बैठीं और उसे समझाने लगीं। परन्तु रानी का जैसे सर्वनाश हो गया हो, जैसे उसका सर्वस्व लुट गया हो। रह रह कर वह कहती—वे चोर नहीं हैं। वे किसी का एक दाना भी नहीं छू सकते। अपना गल्ला था, अपने घर ला रहे थे। महाजन खलिहान में लेने वाला कौन हो सकता है ? घर में उसने दिया था। घर से लेता। कहीं भागे थोड़े ही जा रहे थे। इस साल नहीं तो पारसाल तक उसका चुका देते।

आह ! उसका नाम रानी किसने रक्खा था ! रानियाँ क्या ऐसी ही असमर्थ होती हैं? उसे धन-वैभव की चाह नहीं थी। इस संसार में उसका एक-मात्र अवलम्ब परिश्रम से चूर, भूख की मार को उससे भी अधिक सहने वाला उसका पति था। और आज वह भी उससे छिन गया।

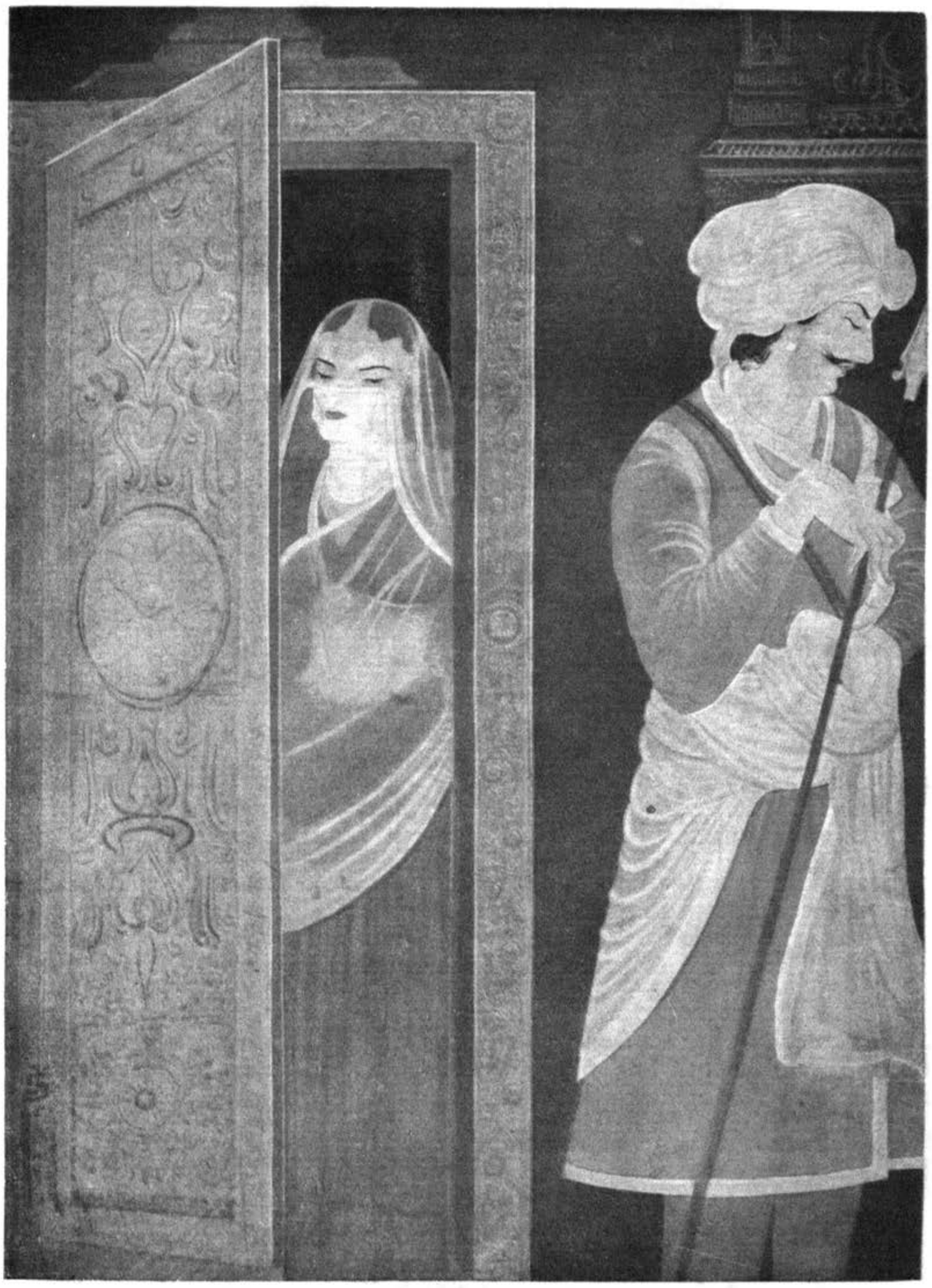
"वे कब आयेंगे ?", रानी ने अपनी पड़ोसिनों से पूछा।

एक ने उत्तर दिया—आज थोड़े ही चले आते हैं। अभी उनके हाथ में हथकड़ी पड़ेगी। वे जेलखाने में बन्द होंगे। वहाँ से अदालत में ले जाये जायँगे। वहाँ हाकिम उनसे पूछेगा—तुमने चोरी की ? वे कहेंगे—हाँ। बस सजा सुना देगा। वे जेलखाने में बन्द हो जायँगे। सजा पूरी भुगत चुकेंगे तब लौटेंगे।

दूसरी ने उत्तर दिया—बिल्कुल ठीक ! पारसाल मेरे देवता पकड़े गये थे। मैं उनके साथ साथ जेल के फाटक तक और फिर अदालत तक गई थी। मैंने अपने गहने बेच डाले और सिपाही को मिठाई खिलाई तब मैं उनके साथ साथ जाने पाई थी। अदालत में पहुँच कर मैंने भी चाहा कि कुछ कहूँ, पर बोलने नहीं पाई। जान पड़ा कि कुछ बोलूँगी तो मुँह पकड़ लिया जायगा। मुझसे कहा गया अपना वकील ले आओ। और वकील लेता है पैसा। फिर जैसा पैसा हो, वैसा वकील मिलता है। मैंने देख लिया कि अदालत में वही जीतता है जिसके पास पैसा बहुत होता है। पैसा देकर वह बहुत से आदमी जमाकर लेता है, जो उसकी तरफ से बोलते हैं। और गरीब बेचारे की तरफ से कौन बोले ? मेरे देवता को सजा हो गई। पर उन्होंने जमींदार को मारा था। वे मार कर जेल गये थे और रमेश ने तो चोरी की है। रमेश का कोई मुँह भी नहीं देखेगा।

रानी उत्तेजित हो उठी। बोली—अपनी चीज अपने घर में ला रहे थे बहिन। चोरी काहे की !

एक और पड़ोसिन ने कहा—भुनगा पासी को पार साल ६ महीने की सजा हुई थी। पर उसका कसूर क्या



कौन

(चित्रकार–प्रमोदकुमार चट्टोपाध्याय) [१६२८



ईद का चाँद

(चित्रकार—सारदाचरण उकील)

था ? उसने जमींदार के खेत में से सिर्फ बाजरे की २० बालें तोड़ी थीं। रमेश को इससे कम सजा नहीं होगी।

इस प्रकार रोज ही रानी के घर में गाँव की स्त्रियाँ जमा होतीं और जेल-अदालत और सजा की बातें कहतीं। रानी अपने पति को देखने के लिए, उससे मिलने के लिए व्याकुल हो उठी। उसके पास बेचने को जेवर भी नहीं थे। सिपाही को क्या देती ? वकील को क्या देती ?

एक पड़ोसी का लड़का शहर में पढ़ता था। उसने रानी को मुफ्त में उसके पति का दर्शन करा देने की प्रतिज्ञा की और उसे लेकर शहर को रवाना हुआ।

जेल का फाटक देख कर रानी भय से काँप उठी। पहरेदारों ने कहा—"एक रुपया दो तो पति से भेंट करा दें।" रानी अपना सिर दे सकती थी, पर रुपया उसके पास कहाँ था। पड़ोसी का लड़का उसकी बेचैनी का अनुभव कर रहा था। उसने कहा—मेरे पास १) है। पिताजी ने खर्च के लिए दिया था। पर चाची तुम उसे सिपाही को दे दो। मेरा काम किसी प्रकार चल जायगा।

पति-दर्शन की लालसा ने रानी की विवेक-शक्ति का अपहरण कर लिया। उसने बालक से रुपया लेकर पहरेदार को दे दिया। रमेश जेल के फाटक पर लाया गया।

विवाह के बाद आज रानी ने उसे प्रथम बार सिर से पैर तक कपड़ा पहने हुए देखा। घुटनों तक जाँघिया, जाँघिये के ऊपर कमीज, सिर पर टोपी। पति को इस वेष में देखकर उसे प्रसन्नता हुई। उसने मन ही मन कहा—जहाँ भी रहो प्रसन्न रहो।

रमेश ने कहा—रानी ! तुझमें शहर तक आने का साहस हुआ, यह देखकर मेरे गर्व का आज ठिकाना नहीं है। मेरी चिन्ता मत करना। कल ६ महीने की सजा सुनाई गई है। यह वैशाख है। एक महीने की छूट मिलेगी। भादों में घर आ जाऊँगा।

रानी ने पूछा—यहाँ खाने को क्या पाते हो ?

"इसकी बात मत पूछ रानी। बड़ा सुख है। दोनों वक्त रोटी-दाल और साग मिलता है। अमीरों का स्वर्ग तो मैं नहीं बता सकता कि कहाँ है, पर गरीबों का, किसानों का स्वर्ग यहीं है। रामू से, कालका से, चौधरी से मेरी ओर से कह देना कि चोरी की सजा स्वर्ग है। खाली हाथ, खाली पेट वहाँ क्या बैठे हैं ? कसूर करें और यहाँ आकर कुछ दिन मेहमानी करें। मेरी पोशाक देख। अपनी सुध में इतने कपड़े तो कभी पहने नहीं। ओढ़ने-बिछाने को कम्बल मिले हैं। रानी ! तेरी फिक्र न होती तो यहीं जिन्दगी काट देता।"

पड़ोसी के बालक ने पूछा—यहाँ काम नहीं करना पड़ता।

"काम बच्चा, कस कर करना पड़ता है। दिन दिन भर चक्की चलानी पड़ती है, बाध बटना पड़ता है, पानी खींचना पड़ता है। पर इस मेहनत के बदले में खराब ही सही, पेट भर खाना तो मिलता है। और वहाँ गाँव में क्या है ? मेहनत भी करो और भूखे भी रहो।"

फिर वह रानी से बोला—६ महीने ब्रह्मा के दिन नहीं होते। बरसात में घर गिरेगा, गिर जाने देना। खेती-बारी की फिक्र न करना। गरमी में आम गुठली, बरसात में साग-पात खाकर गुजर कर लेना। मैं आऊँगा तब देखा जायगा।

फाटक के सिपाहियों ने कहा—बहुत बातें कर चुके, चलो अन्दर।

रानी ने अपनी बगल से एक पोटली निकाली। रमेश ने पूछा—क्या है ?

"थोड़ा-सा चना लेती आई थी। उसी को बदल कर लाई और गट्टा ले लिया है तुम्हारे वास्ते।"

"रानी ! तू मुझे हमेशा बच्चा ही समझेगी ! खैर ला।"

रमेश ने पोटली ले ली।

सिपाही ने उसके हाथ से पोटली छीन कर फाटक से दूर रास्ते में फेंक दी और उसके गले में हाथ लगाकर बोला—"बस बहुत हुआ, अन्दर चल, जेल में बाहर का खाना नहीं लिया जाता है।"

सिपाही की बात की परवा न करके रमेश ने फिर कहा—रानी ! चिन्ता मत करना, ६ महीने ब्रह्मा के दिन नहीं होते।

सिपाही ढकेलता हुआ उसे अन्दर ले गया। रानी अपना मन मसोस कर रह गई। हाय ! यदि संसार रमेश को रानी की दृष्टि से देखता। यदि अदालत उससे पूछती,

तूने क्यों चोरी की ! यदि सरकार जेल के भीतर उसके भोजन की जैसी चिन्ता करती है, वैसा ही जेल के बाहर भी करती।

रानी ने अपनी पोटली उठा ली। जैसे कोई भक्त देवता को कुछ खाद्य सामग्री भेंट करता है और पुजारी देवता के पास से उस खाद्य सामग्री को उसे वापस कर देता है, वैसे ही प्रेम से रानी ने उस पोटली को उठाया। उसमें उसके पति का हाथ लगा था। उसने तिरस्कार का जरा भी अनुभव नहीं किया।

(३)

गाँव में आने पर रानी पति के आने के दिन गिनने लगी। चार वर्ष का उसके एक लड़का था, जो अपनी नानी के पास रहता था। वहाँ उसे खाने-पीने का आराम था। रमेश की गिरफ्तारी और सजा का समाचार सुनकर उसकी वृद्धा माँ ने एक आदमी भेजकर उसे अपने यहाँ बुलवाया। पर रानी ने जाने से इनकार कर दिया। क्या मालूम पति कब आ जायँ ? तब वे कहाँ जायँगे, क्या खायँगे ? इस चिन्ता ने उसे घर न छोड़ने दिया। रही बात अपने खाने-पहनने की, सो इसकी उसे विशेष चिन्ता न थी और फिर अपनी माँ की भी अवस्था से वह परिचित थी। वृद्धा पूर्वजों की कमाई से किसी प्रकार गुजर कर रही थी। बुढ़ापे में दिल बहलाने के लिए उसने नाती को बुला लिया था। वही उस पर क्या कम बोझा था ?

६ महीने कोई ब्रह्मा के दिन नहीं होते। रानी ने पति के घर पर ही रह कर उस समय को काटने का निश्चय किया।

रमेश के आम का एक बाग था, पर कर्ज में वह भी बिक चुका था। महाजन ने उस साल बाग को कुँजड़ों के हाथ बेच दिया था। कुंजड़ा अपना डेरा डाल कर उसी बाग में पड़ा था।

बैशाख के बाद जेठ आया। जेठ की लम्बी दोपहरी काटे न कटती थी। जी ऊबता तब रानी उसी बाग में चली जाती। वह उसका बाग था। बहुत से पेड़ उसके ससुर के लगाये हुए थे। बिक गया था तो क्या ? उस बाग से उसका एक प्रकार का पारिवारिक सम्बन्ध था। अधिकार न होते हुए भी उस बाग को वह अपना समझती थी। वहाँ जाने में वह किसी प्रकार के अपमान का अनुभव नहीं करती थी।

वह कुंजड़े के लड़कों-बच्चों से उस बाग की कहानियाँ बताती। किस पेड़ के आम कितने मीठे हैं, यह बताती। किस वृक्ष के फलों का आचार अच्छा बनता है, यह बताती। एक पेड़ ऐसा भी था जिसमें भादों में आम पकते थे। वह पेड़ भी उसने कुँजड़े को बताया। कुँजड़े ने उस पेड़ से और भी लाभ उठाने की बात सोची।

रानी कुंजड़े के लड़कों-बच्चों का बातों से ही मन न बहलाती, बाग से जानवरों को भगाने और पके आम बीनने में भी वह उनकी यथेष्ट सहायता करती। यह सब काम वह अपना ही समझकर करती। और करती क्यों न ? बाग उसी का था, उस पर उसका अधिकार भले ही न रह गया हो। फिर महाजन उसे दाम मिल जाने पर लौटालने को तैयार भी था। उसके दिल में यह भी आशा थी कि कभी पास में पैसे होंगे तो बाग उसे फिर वापस मिल जायगा।

शाम को चलने लगती तब कुंजड़िन उसे किसी दिन चार, किसी दिन पाँच और किसी दिन दस आम मुफ्त में दे देती। ये ही आम उसके जीवन के आधार थे। इन आमों को वह स्वादु के लिए नहीं, जीवित रहने को, पति का दर्शन करने के लिए खाती थी। पर एक दिन के आम सदैव दूसरे दिन खाती थी। क्या मालूम सरकार को दया आ जाय और वह उसके पति को छोड़ दे ? इसी आशा से प्रतिदिन ताजे आम पति के लिए रख छोड़ती थी। रात को वह बिस्तर पर लेटी लेटी पति के आने की आहट लिया करती। जरा भी किसी की आहट पाती तो चौंक कर उठ बैठती। आँगन से निकल कर द्वार तक आती। चारों ओर आँखें फाड़ फाड़ कर देखती और फिर निराश होकर लौट जाती।

उसके दरवाजे पर नीम का एक पेड़ था। उसकी सघन छाया में पड़ोसी दोपहरी में बैठा करते थे। उनकी खातिर करने के लिए उसके घर में पान-सुपारी न थी, पर घर में एक घड़ा ठंडा पानी वह भर कर रख जाती

श्रौर पड़ोसी के लड़कों से कह जाती कि कोई पानी माँगे तो अपने घर से लोटा लाकर पिला देना।

उसके घर में किसी को घुसने की मनाही नहीं थी। चौपाल में घुसने पर एक पुराना किवाड़ा दरवाजे में लगा मिलता था। इस साल रमेश के सामने ही किसी ने उसे उखाड़ कर होली में डाल दिया था। तब रेंड की लकड़ी का एक टट्टर किवाड़े की जगह लगाया गया था जिसे रानी ने स्वयं लड़कों की सहायता से बनाया था। एक खाट थी जो दिन को बाहर नीम के पेड़ के नीचे गाँव वालों को बैठने के लिए पड़ी रहती थी श्रौर रात में उसके सोने के लिए आँगन में आ जाती थी।

गाँववालों में से किसी ने यह सोचने का कष्ट न किया कि रानी क्या खाकर जीती है। उन्होंने समझा था, रमेश जरूर कुछ घर में रख गया होगा। जब चोरी में पकड़ा गया है तब जरूर उसने पहले भी कुछ चुराया होगा। कौन जाने घर में कुछ नकदी रुपये भी कहीं गड़े हों? इसलिए रानी पर क्या बीत रही है, इस पर किसी ने कभी ध्यान नहीं दिया।

जेठ बीता श्रौर श्राषाढ़ श्राया। खेत श्रौर रास्ते हरियाली से ढँक गये। उसने सोचा, शायद सरकार जोताई-बोवाई का प्रारम्भ समझ कर उसके पति को छुट्टी दे दे। वह श्रौर भी उत्सुकता से पति के आने की बाट देखने लगी।

गाँव में सबके घर छाये गये। पर रानी का घर बिना मरम्मत ही रह गया श्रौर बरसात में ढहने लगा।

बेचारी अबला हल-बैल का भी इन्तजाम न कर सकी। उसके खेत जमींदार ने दूसरों के हवाले कर दिये। कोई हल-फाल दुरुस्त कराता, कोई खेतों में खाद फेंकने ले जाता, कोई बैलों के लिए घास काट कर लाता, पर रानी के पास कोई काम नहीं था। वह अपने द्वार पर बैठी निराशा-भरे नेत्रों से सबको काम करते देखती हुई पति के आने की बाट जोहती रहती।

चूल्हा उसी दिन से नहीं जला था जिस दिन रमेश पकड़ा गया था। घर में कुछ था ही नहीं जो पकाती श्रौर यदि कुछ होता तो भी शायद उससे पकाया न जाता। अकेली अपने लिए उसने कभी खाना नहीं पकाया था। इस प्रकार वह दिन दिन दुबली श्रौर बलहीन होती गई। जब चलती तब उसके पैर लड़खड़ाते। आमों की गुठलियाँ उसने घर के एक कोने में जमाकर रक्खी थीं। जब क्षुधा बहुत बेचैन करती तब दो-चार गुठलियाँ तोड़कर खाती श्रौर एक लोटा पानी पी लेती। घर के आँगन में पड़ोसिन के यहाँ से बीज लाकर उसने ककड़ी बो दी थी। वही उसकी खेती थी। शेष जीवन का वे ही अवलम्ब थीं। वह अपने मन में कहा करती—"जब तक वे आयेंगे, ककड़ियाँ जरूर तैयार हो जायँगी। दस-पाँच दिन आराम से खायँगे, फिर देखा जायगा। खेतों में दाना पड़ ही गया है, मेहनत-मजदूरी मिल ही जायगी।

अब उसके लिए द्वार से उठना भी मुश्किल हो गया। चौपाल में भी झाड़ू लगाती तो हाँफ उठती। एक दिन का पानी भरा कई दिन पीती। जान पड़ता था मानो उसके प्राण अब केवल पति का दर्शन करने के लिए अटके हुए हैं। पर नर-कङ्कालों की उस बस्ती में रानी को इस प्रकार मौत से युद्ध करते हुए देखकर भी किसी ने उससे उसके जी का हाल न पूछा।

गिनते-गिनते आखिर वह दिन भी आ गया। गाँव के लड़कों ने आकर खबर दी कि रमेश आ रहा है। रानी के शरीर में एकाएक न जाने कहाँ से शक्ति आ गई। पति को उसका वेष देखकर दुःख न हो, इसलिए उसने पानी लगा बालों में कंघी की। विवाह के समय की एक साड़ी जिसे कहीं कहीं झींगुरों ने काट डाला था, पहन ली श्रौर माँग में सिन्दूर लगाकर आँगन में इधर उधर घूमने लगी। वह पति को खिलाने के लिए मुलायम मुलायम ककड़ियाँ तोड़ने लगी। एकाएक रमेश ने बाहर से ही आवाज दी—"रानी मैं आ गया।"

रानी दौड़कर उसके पैरों से जाकर लिपट गई, पर रो न सकी। आज प्रसन्नता की भावना में वह हृदय की सारी वेदना को एकदम निकालकर हृदय के बाहर फेंक देना चाहती थी। उसकी घिग्घी बँध गई, वह कुछ बोल न सकी।

रमेश ने उठाने की कोशिश की। पर अरे यह क्या! वह उठती क्यों नहीं? गाँव के एक बूढ़े व्यक्ति ने कहा—उसके शरीर में प्राण भी हैं जो उठे। रमेश ने जोर से पुकारा—रानी! रानी! अब तू भी मुझे इस विपत्ति में अकेला छोड़ देगी?

पर रानी ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसके रक्त-मांस से हीन मूक चेहरे पर एक विचित्र प्रकार की प्रसन्नता खेल रही थी, मानो वह रमेश से कह रही थी—"प्यारे तुम मर्द हो, मैं न रहूँगी तो तुम्हें कमाने की बहुत चिन्ता भी न रहेगी और जब किसी प्रकार पेट न भरेगा तब अपने उसी गरीबों के स्वर्ग में चले जाओगे।"

वह एक-मात्र अपने पति के दर्शन के लिए जीवित थी। आज वह इच्छा पर्ण हो गई, शायद इसीलिए प्राण भी निकल गये।

रमेश ने उसे धीरे से जमीन पर लिटा दिया। उसके अञ्चल से मुलायम मुलायम ककड़ी की बतियाँ जमीन पर गिर पड़ीं। यह अन्तिम उपहार था जो उसने अपने देवता के चरणों की भेंट किया था।

१९३४

❀ ❀ ❀

विवशता

श्री भगवतीचरण वर्मा

मैं पुरुष हूँ, इसलिए कभी कभी मैं यह विश्वास कर लेने का दम भर लेता हूँ कि मैं स्त्री के प्रति पुरुष के प्रेम को समझता हूँ; पर मैं आज तक पुरुष के प्रति स्त्री के प्रेम को नहीं समझ सका। स्त्री के प्रेम में कितना त्याग है, कितना आत्म-समर्पण है और कितनी विवशता है—मैं सच कहता हूँ कि स्त्री के इस रूप को देखकर मुझे आश्चर्य होने लगता है। मैं कभी-कभी पूछ बैठता हूँ—क्या स्त्री ने प्रेम करने के लिए ही जन्म लिया है?

लोग मुझसे भले ही सहमत न हों, पर म तो यह जानता हूँ कि प्रेम पुरुष के लिए एक क्षणिक भावना है, जिसमें वासना और अहमन्यता का जबर्दस्त पुट रहता है; वह पुरुष का एक ऐसा खेल है जिसे खेलने में उसे सुख मिलता है; पर है वह एक खेल ही—उससे अधिक कुछ नहीं।

पर स्त्री के लिए प्रेम अस्तित्व है—शायद प्रेम ही उसका जीवन है। ऐसा क्यों है, इसी को तो मैं नहीं समझ सका।

और इसीलिए अब आप मुझसे पूछेंगे कि किस अभिलाषा से प्रेरित होकर तथा किस आशा को लेकर मैं उस दिन लीला के यहाँ गया था तब कहूँगा कि मैं उस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देने को तैयार नहीं हूँ। जीवन की कुरूपताओं की विवेचना कुछ थोड़े-से समय के लिए भले ही रुचिकर हो, पर कुरूपता अन्त में कुरूपता है, उसे अधिक देर तक देखते रहने पर आँखें ही नहीं जल उठती हैं, सारा शरीर जल उठता है; यहाँ तक कि उस जलन से आत्मा तक झुलस उठती है। और इसलिए इतना ही कह देना काफी होगा कि उस दिन मैं लीला के यहाँ पहुँचा था—भूला हुआ-सा एक चोर की भाँति!

पाँच वर्ष पहले लीला मेरी सब कुछ थी—मेरी दुनिया थी। वह मेरे पड़ोस में रहती थी, साथ खेली थी और साथ पढ़ी थी। हम दोनों के पिता अभिन्न मित्र थे; और मेरा ऐसा विश्वास था कि मैं लीला से प्रेम करता था। एक दिन लीला के दरवाजे बरात आई और वह अपने पति के साथ बिदा हो गई। लीला की और मेरी मित्रता उसके बाद साल भर तक पत्रों-द्वारा और चली, पर धीरे धीरे पत्र-व्यवहार भी बन्द हो गया।

और इसके बाद मेरा भी विवाह हो गया। मेरी पत्नी सुन्दर थी—लीला से अधिक। अन्य बातों में भी वह बुरी न थी। धीरे धीरे मैं लीला को भूल-सा गया।

उस दिन एकाएक लीला की याद मुझे आ गई—एक अजीब प्रकार का कम्पन लिये हुए। पाँच वर्ष का समय कम नहीं होता। न जाने कितने परिवर्तन पाँच वर्ष में हो चुकते हैं। पर पाँच वर्ष बाद उस दिन जब लीला की याद मेरे हृदय में कसक उठी तब मैं अपने को न रोक

सका। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि अतीत लौट सकता है—उसी तीव्रता के साथ, उसी उन्माद को लिये हुए।

× × × ×

मुझे देखकर लीला को आश्चर्य हुआ, उसका आश्चर्य उसके मुख पर स्पष्ट था। पर उसका आश्चर्य मुझे सुख-दुख से सूना मालूम पड़ा—केवल आश्चर्य उसके आगे कुछ नहीं।

उस समय संध्या हो गई थी। लीला के पति बाबू रामकिशोर टहलने निकल गये थे और लीला कमरे में अपने दो बच्चों के साथ बैठी थी। मुझे देखते ही वह उठ खड़ी हुई—"अरे रमेश—तुम!" उसने उठते हुए कहा!

"हाँ लीला मैं ही हूँ!" मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए मैंने उत्तर दिया।

एक क्षण के लिए हम दोनों की आँखें एक दूसरे से मिलीं, और फिर लीला ने अपनी आँखें जमीन पर गड़ाते हुए एक ठंडी श्वास ली। "अच्छा हुआ तुमने मेरी याद तो कर ली।"

लीला के इस उत्तर से मैं स्तब्ध-सा रह गया। मैंने लीला को एक बार सिर से पैर तक देखा—और मैं आपसे सच कहता हूँ, मैं सिहर उठा। मेरे सामने एक प्राणहीन स्त्री खड़ी थी; लीला बदल गई थी—बुरी तरह बदल गई थी। उसके गाल पीले पड़ गये थे, उसकी आँखों की चमक जाती रही थी। उसके मुख पर सूनेपन की स्पष्ट रेखायें विद्यमान थीं, उसकी आत्मा का सूनापन उसके सारे अस्तित्व में छलक पड़ा था।

करीब ग्यारह बजे रात बाबू रामकिशोर लौटे। उस समय वे होश में कम थे।

बाबू रामकिशोर की अवस्था लगभग चालीस वर्ष की थी। सुन्दर मुख जिसकी कान्ति समय के बहुत पहले उतर गई थी और बड़ी बड़ी आँखें जो गढ़े में धँस रही थीं तथा जो कभी कभी बुरी तरह चमक उठती थीं। बाबू रामकिशोर शहर के बहुत बड़े रईसों में गिने जाते थे। कहा जाता है कि लीला के पिता ने लीला का विवाह करते समय रामकिशोर के रुपयों पर अधिक ध्यान दिया था। पर लीला के पिता को सम्भवतः यह पता न था कि वे अपनी पुत्री का विवाह एक बिगड़े हुए आदमी के साथ कर रहे हैं।

रामकिशोर ने मेरा कुशल-क्षेम पूछा। इतना जानता हूँ कि मेरा कुशल-क्षेम पूछने में उन्हें कुछ परिश्रम करना पड़ा था, और इसके बाद वे सोने चले गये।

दूसरे दिन बाबू रामकिशोर ने मेरा खुले हृदय से स्वागत किया। मुझे उस समय यह देखकर आश्चर्य हुआ कि लीला को बाबू रामकिशोर का मेरा स्वागत करना अच्छा नहीं लग रहा है।

संध्या के समय बाबू रामकिशोर मुझे और लीला को सिनेमा ले गये। लीला गई तो थी, पर मुश्किल से। ऐसा मालूम होता था कि लीला को सिनेमा अच्छा नहीं लग रहा है। वह बिलकुल भावनाहीन बैठी रही। इंटरवेल में बाबू रामकिशोर ने मुझसे धीरे से कहा—"रमेश एक आध पेग लोगे?"

"नहीं।" मैंने उत्तर दिया।

रामकिशोर लीला से यह कहते हुए, "अभी आता हूँ" बाहर चले गये। मैंने लीला से पूछा,—"लीला, बाबू रामकिशोर की क्या हालत है?"

बड़े करुण स्वर में लीला ने उत्तर दिया—"रमेश, यह न पूछो!"

"नहीं, बतलाओ तो! मैं देख रहा हूँ कि तुम बड़ी दुखी हो।" मैंने आग्रह किया।

"तो सुनो—हम पर बहुत अधिक कर्ज लदा है। ये दुनिया को मानो जानते ही नहीं। सामर्थ्य से बाहर खर्च करते हैं। आय बढ़ाने के लिए घुड़दौड़ खेलते हैं, और वहाँ हारकर अपना दुःख दूर करने के लिए शराब पीते हैं।"

लीला की बात समाप्त भी न हो पाई थी कि रामकिशोर लौट आये। उस समय उनकी आँखें कुछ लाल थीं। लीला ने उनकी ओर देखा—कुछ देर तक उसकी आँखें रामकिशोर की आँखों से मिली रहीं। फिर रामकिशोर हँस पड़े। उन्होंने लीला का हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा—"देखो मुझे माफ कर दो—मैं तो गलतियाँ करने का इतना आदी हो गया हूँ कि अब मेरा सँभलना गैर मुमकिन है।" यह कहकर उन्होंने लीला की ओर से अपनी आँखों के आँसुओं को छिपाने के लिए मुँह फेर लिया। लीला ने

एक ठंडी साँस भरी और एक विवश भाव से उसने मेरी ओर देखा।

हम लोग सिनेमा से लौटे—और उस रात मुझे नींद नहीं आई। मैं न जाने क्या क्या सोचता रहा। उस आलीशान मकान का वह आलीशान कमरा जिसमें मैं लेटा हुआ था, एक अजीब कुरूपता की नजर से मुझे देख रहा था। मुझे ऐसा मालूम होता था कि वैभव का पिशाच बराबर मेरे सिर पर पहरा दे रहा है।

सुबह हुई—बड़ी मुश्किल से। जलपान करके मैंने कपड़े पहने। बाबू रामकिशोर ने पूछा,—"कहो भाई, क्या प्रोग्राम है?"

"शहर घूमने का इरादा है!"

बाबू रामकिशोर ने ड्राइवर को आवाज दी—"रमेश बाबू को शहर घुमा लाओ!" और उन्होंने मुझसे कहा—"मुझे क्षमा कीजिएगा। मेरी तबीअत ठीक नहीं है!"

दो घण्टे बाद जिस समय मैं लौटा, मैंने देखा कि लीला बैठी रो रही है—रो नहीं रही बल्कि हिचकियाँ ले रही है, और बाबू रामकिशोर शून्य-दृष्टि से अपने चारों ओर देखते हुए बैठे थे। मुझे देखकर लीला ने बल लगा कर अपने को सँभाला। उसने खाने का प्रबन्ध किया, और हम सब खाने बैठे। पर उस समय न लीला ने खाया और न बाबू रामकिशोर ने। उन दोनों के कारण मुझसे भी नहीं खाया गया।

खाना खाकर जब हम लोग उठे तब बाबू रामकिशोर ने मुझसे कहा—'रमेश, मेरी तबीअत ठीक नहीं है, मैं तो लेटूंगा। शाम को हम लोग घुड़दौड़ चलेंगे। इस समय लीला से बातें करो।" यह कहकर वे अपने कमरे में चले गये।

हम दोनों थोड़ी देर तक हाल में बैठे रहे। मैंने कहा—"लीला, तुम इतनी उदास क्यों हो—इससे लाभ ही क्या है?"

'शायद कुछ नहीं।," किंचित् मुस्कराते हुए लीला ने कहा—"लाभ तो किसी काम में नहीं है और उदास होना तो एक स्वाभाविक बात है।"

लीला ने बात ठीक कही थी। एकाएक मैं लीला से पूछ बैठा—"क्या तुम बाबू रामकिशोर से प्रेम करती हो?"

मुझे पता नहीं कि किस भावना से प्रेरित होकर मैं यह प्रश्न कर बैठा, और उस प्रश्न के पूछने का मुझे आज तक दुःख है। लीला ने बड़े आश्चर्य के साथ मेरी ओर देखा, मानो मैंने कोई बहुत अनुचित बात कह दी हो। फिर उसने बाबू रामकिशोर के कमरे की ओर देखते हुए कहा—"हाँ रमेश! बहुत अधिक—इतना अधिक कि जिसकी तुम कल्पना तक न कर सकोगे!"

हम दोनों मौन हो गये; वह बड़ा-सा हाल बिलकुल स्तब्ध था; बड़ी घड़ी का "टिक-टिक" शब्द साफ सुनाई पड़ रहा था, और मैं सच कहता हूँ कि घड़ी की वह आवाज मुझे भयावनी लग रही थी। लीला अपने गाल पर हाथ रक्खे कुछ सोच रही थी; उसका पीला मुख न जाने क्यों धुँधला पड़ गया था।

मैंने अनुभव किया कि वहाँ का सारा वातावरण मेरे लिए असह्य हो उठा। अपनी कल्पना के सौन्दर्य के स्थान पर वास्तविकता की कुरूपता देखकर मैं विचलित हो उठा। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद मैंने लीला से कहा—"लीला, मुझे तुम्हारी हालत देखकर बड़ा दुःख हुआ है। मैं आज शाम को जाना चाहता हूँ।"

"इतनी जल्दी!" लीला चौंक-सी उठी। फिर उसने धीरे से कहा—"अच्छी बात है!"

सन्ध्या-समय लीला ने मेरा असबाब कार पर रखवा दिया। बाबू रामकिशोर उस समय घर पर नहीं थे, शायद वे घुड़दौड़ चले गये थे। लीला मुझे पहुँचाने के लिए स्वयं स्टेशन चली।

गाड़ी आने में अभी आध घण्टे की देर थी। हम दोनों वेटिंगरूम में बैठे थे। एकाएक लीला की दृष्टि से मैं चौंक उठा। उसकी दृष्टि में अजीब बात थी—एक अजीब करुणा थी, एक अजीब विवशता थी। थोड़ी देर तक वह मुझे एकटक देखती रही। फिर उसने धीरे से मुझसे कहा—"रमेश! तुमने मुझसे कभी प्रेम किया है? है न!"

मैं चुप रहा, पर मेरा हृदय तेजी से धड़क रहा था। बिना मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये हुए लीला कहती गई—"रमेश, तुम मुझे क्षमा कर देना, मैं बड़ी अभागिनी हूँ, बड़ी पापिनी हूँ। मैंने तुम्हारे साथ एक बड़ा अपराध किया है। रमेश, जिस समय तुम घूमने गये थे, वे

एक वारंट से गिरफ्तार हो गये। उनके ऊपर दो सौ रुपये की डिग्री थी और उनको छुड़ाने के लिए रमेश, मैंने तुम्हारे सूटकेस से तुम्हारे दो सौ रुपये निकाल लिये!"

मैं स्तब्ध-सा रह गया, मैंने केवल इतना कहा—"लीला!"

लीला के हृदय का बाँध फूट पड़ा—"रमेश! आज दिन भर मैं रोई हूँ, और न जाने कब तक मुझे रोना पड़ेगा। पर मैं क्या करूँ, मैं कितनी विवश हूँ। वे मेरे सब कुछ हैं—अपने सारे जेवर मैंने बेच दिये, अब मैं कंगाल हो गई हूँ। लेकिन भगवान् ने मुझे इसके आगे भेजा—मुझे आज चोरी भी करनी पड़ी। रमेश, तुमसे मेरी यही प्रार्थना है कि तुम मुझे क्षमा करो और हमारे लिए भगवान् से प्रार्थना करो!"

उस समय गाड़ी प्लेटफार्म पर आ गई थी। रामकिशोर के ड्राइवर ने मेरा असबाब कुली से उठवा कर गाड़ी पर रखवाया। मैंने लीला से कुछ कहा नहीं, चुपचाप लीला का हाथ पकड़े हुए मैं गाड़ी पर बैठ गया। थोड़ी देर तक मैं कुछ सोचता रहा, फिर मैंने लीला को एक बार अच्छी तरह से देखा।

और मैंने लीला के मुख पर क्या देखा, यह मैं नहीं बतला सकता। पर इतना कह सकता हूँ कि लीला को देखकर मेरे हृदय में एक प्रकार की मुर्दनी-सी छा गई—लीला के हृदय की भावनायें बरबस मेरे हृदय में प्रवेश कर गई थीं।

मैं एकाएक चौंक उठा, रेल ने सीटी दी थी। लीला गाड़ी के बाहर खड़ी थी। उसने धीरे से कहा—"रमेश! मुझे क्षमा करते हो न—बोलो!"

गाड़ी धीरे धीरे चलने लगी। उस समय मैंने लीला से कहा—"लीला, मैं कह नहीं सकता कि तुमने कोई अपराध किया है या नहीं। यदि तुमने अपराध किया है तो मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ। भगवान् तुम्हारा भला करें।"

गाड़ी तेज हो गई थी। मैं लीला को देख रहा था और लीला मुझे देख रही थी—एकटक, मौन!

१९३६

❀ ❀ ❀

रंगीन सपना

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र

संध्या। बत्ती जलने में अभी थोड़ी देर है। ऊपर आकाश में अभी लाली देख पड़ती है। नगर के बाहर लम्बा उद्यान है, जिसमें होकर सड़कें चारों ओर निकल गई हैं। एक ओर दूर तक मैदान है जो दूब से हरा हो रहा है। मैदान में एक ओर जहाँ साधारणतः और कोई जाना न चाहेगा, श्यामलाल, चित्त, ऊपर आकाश की ओर मुँह किये पड़ा है। श्यामलाल यों युवक तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन उसकी युवावस्था के दिन अभी चले भी नहीं गये हैं। उसका शरीर अधिक मांसल न होते हुए भी स्वस्थ है। उसकी आँखें प्रायः बन्द हैं। पैरों के कभी कभी हिल पड़ने से उसका सफेद पाजामा कभी कभी हिल पड़ता है। कमीज के दो बटन खुले रहने से छाती का कुछ भाग देख पड़ता है।

रामनाथ का प्रवेश। रामनाथ की अवस्था। सम्भवतः वे तीस वर्ष के हो रहे हैं। लम्बा, गोरा, इकहरा शरीर है। लम्बे बाल पीछे की ओर घूमे हुए, चंचल चमकीली आँखें हैं। वह क्षण भर रुककर श्यामलाल की ओर एक-टक देखता हुआ मुस्करा पड़ता है। जैसे हँसी रोकने की प्रतिक्रिया में उसका सारा शरीर हिल उठता है। धीरे-धीरे पैर रखकर आगे बढ़ता है और श्यामलाल के पैताने खड़े होकर उसके मुँह की ओर ध्यान से देखता है।)

रामनाथ—स्वप्न का स्वर्ग और कल्पना का सुख—...

(श्यामलाल चौंककर उठ बैठता है और उसकी ओर देखने लगता है) मिथ्या है जी......

श्यामलाल—तुम......

रामनाथ—कदाचित् तुम्हें सन्देह और विस्मय हो रहा है। इसके लिए कारण भी है। तुम शायद अभी सपना देख रहे थे!

श्यामलाल—किस बात का...

रामनाथ—शीशे में अपना मुँह देख लो। देखो तो तुम्हारी आँखें तुम्हीं से कुछ कहती हैं या नहीं। और तुम नहीं मानते। तुम सपना नहीं देख रहे थे। लेकिन मैं यह कैसे मान लूँ। जब तुम्हारा पाप मुझे.....

श्यामलाल—(बात काटकर) ऐं...मेरा पाप? लेकिन तुम्हारा उपदेश। मैंने तो तुमसे कल कह दिया।

रामनाथ—मुझे याद नहीं रहा। ऐसी बात तो नहीं है। और यह जानते हुए कि मेरा उपदेश इस स्थिति में तुम्हें पसन्द भी नहीं पड़ेगा, अपनी इच्छा से तुम्हारे सिर आ पड़ा हूँ। इसलिए कि मैं तुम्हें बचाना चाहता हूँ और इसके लिए......

श्यामलाल—इसलिए कि तुम मेरा पाप जानते हो। लेकिन तुम्हारी यह पाप की परिभाषा ठीक नहीं है। और फिर ईश्वर ने मेरे लिए भी तो एक निश्चित पथ....

रामनाथ—(उत्तेजित स्वर में) बिलकुल नहीं। ईश्वर उनकी आड़ नहीं आता जो अपनी इच्छा को—अपनी प्रवृत्ति को उसका संकेत समझते हैं। ईश्वर तो उनका विश्वास है, जो सबल हैं, जो अपने लिए कुछ नहीं चाहते, जो अपनी प्रवृत्तियों के शासक हैं, दास नहीं। सपने के रंगीन बादल बरसते नहीं......जो यह नहीं जानता वह ईश्वर का नाम क्यों ले?

श्यामलाल—ईश्वर के संबंध में मेरी अपनी धारणा जो....

रामनाथ—वह संसार की धारणा के प्रतिकूल है। तुम्हारा अपना मन जिस लालसा में पड़कर छटपटा रहा है उसे तुम अपने ईश्वर की प्रेरणा समझते हो। इस युग के सभी प्रवृत्तिवादी ईश्वर के नाम पर ऊधम मचाते हैं। अपने विकार, अपने अभाव का सम्बन्ध ईश्वर से जोड़कर तुम आसानी से छुट्टी ले लेते हो।

श्यामलाल—(आवेश में)—अच्छा...

रामनाथ—(मुस्कराकर) जैसे ईश्वर का अभिशाप तुम्हारी आँखों से निकल रहा है। क्षण भर में तुम्हारी आँखें लाल हो गईं। रंग-मंच पर तुम अच्छे अभिनेता उतरते, लेकिन ईमानदार जो नहीं हो......

श्यामलाल—और तुम मुझे ईमानदारी सिखाने आये हो...

रामनाथ—हाँ, यदि तुम मानो। तुम आज भी नहीं गये।

श्यामलाल—नहीं......

रामनाथ—और सम्भवतः कल भी नहीं जाओगे। आज या कल उसका मर जाना भी निश्चित है। और उसके बाद जो काम तुम्हें करना चाहिए था वह करेगा तुम्हारा छः साल का लड़का......

श्यामलाल—क्या करेगा?

रामनाथ—श्मशान-यात्रा और शवदाह। उसके समाप्त होने पर दस दिन के विशेष कर्म......

श्यामलाल—व्यर्थ है यह सब। इससे होता क्या है?

रामनाथ—सम्भव है, व्यर्थ हो। इतना तो निश्चित है, उसकी लाश तुम्हारे घर में सड़ती तो रहेगी नहीं। कुत्तों और गीदड़ों का भोजन भी शायद न बने। कहीं न कहीं उसे ठिकाना तो देना ही होगा। दाह और अपने प्रचलित कर्मकांड यदि व्यर्थ हों तो कब्र में रखकर ऊपर से स्मारक-स्तम्भ लगा दो। कुछ न कुछ करना तो होगा तुम्हें। (मुस्कराते हुए) और नहीं तो अच्छा हो जिस प्रकार प्राचीन मिस्र में ममी की व्यवस्था थी वही प्रबन्ध कर दो।

श्यामलाल—(क्रोध में उठते हुए) चुप रहो। मैं अपनी स्त्री के शव को सन्दूक में बन्द कर रक्खूँ?

रामनाथ—ऐं... स्त्री? तुम्हारी स्त्री? मैं तो समझता था, जवानी के दस वर्ष उसके साथ कटे। दो बच्चे भी पैदा हुए और अब तुम जीवनमुक्त हो गये। उसके लिए तुम्हारा अभी कोई कर्तव्य बाकी है, इसका ध्यान तुम्हें होता तो अब तक तो तुम कम-से-कम दस दिन पहले घर पहुँच गये होते। कम-से-कम तार मिलने पर तो जरूर ही चले गये होते। इतने बड़े संसार में कदाचित् कोई भी उस ठोस धातु का नहीं बना है, जिसके

तुम बने हो। जिस स्त्री के साथ तुम्हारे सबसे सुन्दर दिन, वास्तव में सपने के दिन तो वही थे, बीत गये वह मर रही है और तुम यहाँ कुमारी चन्द्रा के प्रेम में... बस, थोड़े दिनों में तुम्हें पता चलेगा कि उसे प्रेमी और पति की जरूरत तो है ही नहीं. वह तो तुम्हें अपने व्यवसाय और प्रसिद्धि का साधन बना रही है। जिस दिन उसे विवाह करना होगा तुमसे अधिक योग्य, संभ्रान्त और सुन्दर पुरुष उसे मिलेगा।

श्यामलाल—लेकिन तुमने यह कैसे समझ लिया कि मैं उसे प्रेम करता हूँ या उससे विवाह करना चाहता हूँ? मैंने तो केवल व्यवसाय में उसकी साझेदारी की है। डाक्टरी की उपाधि लेकर आने वाले नये डाक्टरों के लिए किस मुसीबत का सामना करना पड़ता है, यह तो तुम जानते नहीं। मैं ही साल भर दूकान खोले बैठा रहा। दो हजार तो मुझे केवल दूकानभाड़ा और साधारण व्यवस्था में खर्च कर देने पड़े। पिछले छः महीने तो मेरे दीवालिएपन के रहे हैं। अब किसी प्रकार यह सूरत निकली तब यह उपद्रव खड़ा हुआ। जहाँ उधर आठ घंटे में एक भी रोगी मेरे पास नहीं आया, इधर तब से हर घंटे आठ रोगियों का पड़ता तो पड़ जाता है। और मुझे आशा थी, पिछला घाटा इसी साल पूरा भी हो जाता!

रामनाथ—हूँ... यदि यही है तो फिर इस समय तुम्हारी दूकान बन्द क्यों है? और तुम यहाँ हरे मखमल पर लेट कर कवित्व और स्वप्न की साधना क्यों कर रहे हो? तुम्हारी दूकान से कम-से-कम दस आदमियों को मैंने लौटते देखा है, जिनके हाथ में दवा के पुर्जे थे।

(उसकी ओर ध्यान से देखने लगता है)

श्यामलाल—इसी तरह। आज जी न लगा। कुछ तबीअत भी भारी रही।

रामनाथ—इसके कारण दो हो सकते हैं—कुमारी चन्द्रावती का न रहना और शायद स्त्री की बीमारी भी। लेकिन तुम्हारा यह जी न लगना! वास्तव में व्यवसाय की सफलता की ओर भी तुम्हारा ध्यान नहीं है। इसी लिए अब मेरा अनुमान सही है... (रुककर) तुम रंगीन सपनों की दुनिया बना रहे हो और दूसरी ओर वह जो तुम्हारा संसार था, जिसके तुम थे, अपना दम तोड़ रहा है।

श्यामलाल—तो फिर चलूँ दूकान खोलने......

रामनाथ—कुमारी चन्द्रावती खड़ी थीं वहाँ.. ...।

श्यामलाल—(बात काटकर) कहाँ?—(उद्वेग में उसकी ओर देखने लगता है।')

रामनाथ—वहीं दूकान की सीढ़ी पर... उन्होंने मुझसे तुम्हारे बाबत पूछा भी... मैंने कहा, मुझे नहीं मालूम... ।

श्यामलाल—और भी कुछ कहा उन्होंने...... ।

रामनाथ—कहा तो था, बड़े सुन्दर जीव हैं। उन्हें डाक्टर की अपेक्षा कवि या गायक या चित्रकार होना चाहिए था। डाक्टरी के लिए तो ठोस बुद्धि की आवश्यकता है।

श्यामलाल—(जैसे कुछ सोचते हुए) लेकिन इस समय कानपुर से कौन-सी गाड़ी आती है।

रामनाथ—सम्भव है, कानपुर न जाकर काशी गई रही हों या उसी तरफ और कहीं... .. ।

श्यामलाल—लेकिन उन्होंने तो...... ।

रामनाथ—तुमसे कानपुर जाने के लिए कहा था। लेकिन कोई आवश्यकता नहीं कि वे तुमसे सदैव सच कहें।

श्यामलाल—तुमने उनसे और कुछ तो नहीं कहा?

रामनाथ—मुझे झूठ बोलने की आदत नहीं है।

श्यामलाल—अच्छा तब... ।

रामनाथ—तुम मुझसे क्या पूछना चाहते हो? तुम्हारे विवाहित होने के बारे में, तुम्हारे बच्चों के बारे में और तुम्हारी स्त्री के बारे में मैंने उनसे कुछ कहा या नहीं? यही न?

श्यामलाल—(कुछ सोचते हुए) हाँ यही... ।

रामनाथ—कहा तो मैंने, मैं झूठ नहीं बोलता। तुम तो कह रहे थे, मैं पाप की परिभाषा ठीक नहीं करता। फिर इस तरह पीले क्यों पड़ गये? व्यक्ति जब समाज की सतह के ऊपर उठता है उस समय पाप की परिभाषा अवश्य ही दूसरी होती है, लेकिन हम समाज के मङ्गल

और उसकी व्यवस्था के विचार से पाप की एक ही परिभाषा जानते हैं। इसलिए कि हमको, हमारे परिवार, मित्र और शत्रु सबको एक ही साथ एक ही नाव में बैठना पड़ता है। इसलिए हम पाप की एक ही परिभाषा करते हैं। यदि अब तक तुम चन्द्रावती को अपनी परिस्थिति—अपनी सचाई का पता न दे पाये तो तुमने भूल की। और फिर वही तुम्हारा प्रेरक ईश्वर तुम्हें उचित प्रेरणा भी देगा।

श्यामलाल—भाई, मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ। किसी तरह मेरी रक्षा...।

रामनाथ—तुम्हारी! तुम्हारे पाप की नहीं। तुम अभी यहाँ से खिसक जाओ सीधे अपने घर और फिर कभी भूलकर भी कुमारी चन्द्रावती से न मिलना। तुम्हारी रक्षा का इससे बढ़कर दूसरा साधन इस समय नहीं है।

श्यामलाल—क्यों क्या ?... (उसकी साँस तेज हो जाती है)।

रामनाथ—किनारे पहुँच चुके हो। नीचे गहरा कुण्ड है। आगे बढ़ने में अब कल्याण नहीं। (आगे बढ़कर बाहर सड़क की ओर देखते हुए) आ रही हैं...आ रही हैं। इस ओर इन पेड़ों की आड़ से निकल जाओ। प्रस्तुत बुद्धि से काम लो।

(श्यामलाल थोड़ी दूर तक चलकर फिर वहीं दूब पर बैठ जाता है। चन्द्रावती का प्रवेश। चन्द्रावती रामनाथ की ओर बढ़ती है।)

चन्द्रावती—(हँसती हुई) आप यहाँ हैं! मैं आपके स्थान गई और फिर वहाँ न मिलने पर आप अनुमान भी नहीं कर सकते कि कितनी जासूसी करनी पड़ी। मुझे यहाँ (श्यामलाल की ओर देखती हुई) कौन है ? वह... श्यामलाल जी...वही तो (रामनाथ को वहीं छोड़कर श्यामलाल के पास पहुँचती है। उसके कन्धे पर हाथ रखकर) मालूम हो रहा है, आप सो रहे हैं।

(चन्द्रावती पूर्ण युवती और सुन्दरी है। उसकी आँखें लम्बी और प्रभावोत्पादक हैं। ओठ पतले, नाक ऊँची, ललाट भी पतला है। कोरदार रेशमी साड़ी, पैर में कामदार देशी जूता।)

(रामनाथ का प्रस्थान)

श्यामलाल—नहीं...मैं...।

चन्द्रावती—(उसके सामने खड़ी होकर) इस समय आपने दवाखाना बन्द कर रक्खा है। व्यवसाय तो इस तरह नहीं चल सकेगा। जो ग्राहक आज लौटे हैं, महीनों तक तो नहीं आयेंगे।

श्यामलाल—आप कानपुर नहीं गई थीं...

चन्द्रावती—(हँसती हुई) इसी लिए शायद रुष्ट होकर दूकान बन्द कर दी। तो शायद आप जान गये हैं, मैं कहाँ गई थी। मैं आपके घर गई थी। दो दिन और दो रात वहीं रही हूँ। कल दो बजे दिन में उनकी मृत्यु हो गई। संध्या तक दाह-संस्कार हो गया। और आज सबेरे की गाड़ी से मैं आ रही हूँ। मैंने वहाँ लोगों से कह दिया कि आपकी आज्ञा से मैं आई हूँ। यह भी कह दिया कि व्यवसाय के झंझटों में आपको अवसर नहीं मिला। इस तरह आपके सम्बन्ध में कोई अपवाद नहीं रहा। आपकी स्त्री मेरी ओर निराशा और सन्देह की दृष्टि से देखती रहीं। मैं जो दवा पिलाती थी वह भी उन्होंने इच्छा से नहीं लिया।

श्यामलाल—अपशब्द भी तो कहा होगा उसने आपको...।

चन्द्रावती—आपके भीतर अभी तक पश्चात्ताप की लौ नहीं उठी। इन दो दिनों में और रात को भी मैंने जब देखा आपके चित्र को लेकर कभी देखती कभी अपने सिर पर रख लेती। उस बेचारी ने तो मुझे कोई उलाहना नहीं दिया। लेकिन भीतर ही भीतर मेरा मन मुझे स्वयं दोष दे रहा था। आप अपने कर्तव्य से विमुख रहे और उसका फल उठाना पड़ा मुझे। लेकिन मुझे पता क्या था कि इस आधी अवस्था निकल जाने पर आप अभी किशोरावस्था के सपने देख रहे हैं ? आपने मुझ पर कभी यह नहीं प्रकट होने दिया कि आप विवाहित हैं और आपके दो बच्चे भी हैं। आपका चरित्र मेरे लिए सदैव रहस्य रहा। मैं तो समझती थी कि आप केवल डाक्टर ही नहीं, दार्शनिक भी हैं।

(श्यामलाल उठकर एक ओर चल पड़ता है। चन्द्रावती बढ़कर उसका हाथ पकड़ लेती है।)

श्यामलाल—आप मुझे क्षमा करें—

चन्द्रावती—मैं तो आपको क्षमा कर दूँगी। लेकिन आपकी आत्मा आपको क्षमा करेगी? आपकी कोटि के लोग बुराई करने और क्षमा माँगने के लिए पैदा ही होते हैं। इसमें आपका कोई दोष नहीं। आप तो सब कहीं ईश्वर की प्रेरणा देखते हैं। शायद यह भी उसी की प्रेरणा थी।

श्यामलाल—मैं इस समय तर्क करना नहीं चाहता।

चन्द्रावती—तर्क करने के लिए कुछ होना भी चाहिए। और फिर अब तर्क न करो, प्रायश्चित्त करो। अपना बोझ—अपनी आत्मा का बोझ उतार डालो।

श्यामलाल—किस करह...।

चन्द्रावती—मनुष्य बनकर। स्त्री तो गई, दो बच्चे हैं। उनके प्रति जो अपना कर्तव्य समझो उसे करो। मैं तुम्हारी सहायता करने को तैयार हूँ। अपने रंगीन सपने को सदैव के लिए दूर फेंको। मनुष्य बनो।

श्यामलाल—रंगीन सपने का मतलब क्या है आपका—

चन्द्रावती—महोदय, आप डाक्टर हैं, मैं भी डाक्टर हूँ। आपने मेरा सहयोग इस डाक्टरी के व्यवसाय की उन्नति के लिए नहीं किया था और न तो उसका अर्थ यह था कि आप इस पेशे में धन कमाना चाहते हैं। आपके मन में तो एक प्रकार की आसक्ति—एक तरह की लालसा काम कर रही थी। आप मुझे चाहते थे। अब हमारी साझेदारी समाप्त हो गई।

श्यामलाल—यह तो मैं भी समझ रहा हूँ।

चन्द्रावती—(उत्तेजित होकर) यह तुम भी समझ रहे हो? और अगर मैं तुमसे विवाह करूँ?

(श्यामलाल धरती की ओर देखता है) अभागे पुरुष। तुम्हारा ध्यान यहाँ तक पहुँच गया। अब भी तुम्हारे मन में मेरे प्रति आसक्ति बनी है। यदि तुम पुरुष होते तो कह बैठते कभी नहीं...सम्भव नहीं। (उसकी ठुड्डी ऊपर उठा कर) विवाह अब तुम्हारे जीवन का सबसे बड़ा कलंक होगा। उसकी वह निराश और सन्देह-पूर्ण आँखें अब भी मेरे भीतर गड़ रही हैं। (अलग हटकर) मैंने निश्चय किया है, यह व्यवसाय—डाक्टरी का पेशा छोड़ दूँगी।

श्यामलाल—तब क्या करोगी?

चन्द्रावती—वही जो तुम्हारी स्त्री करती थी। यही मेरा प्रायश्चित होगा। और तुम, दूकान की साख जम ही गई है। मन लगाकर यदि तुमने उसे चलाया तो किसी दिन यहाँ के नामी डाक्टर हो जावगे। (ताली का गुच्छा आगे बढ़ाते हुए) यह लो। दूकान के आज से तुम अकेले मालिक हो, उसमें मेरा कोई स्वत्व नहीं।

श्यामलाल—(ताली का गुच्छा लेकर) तुमको भी तो कुछ करना होगा। नहीं तो फिर—

चन्द्रावती—(मुस्कराती हुई) इस तरह के व्यवसाय में खतरा है। तुम्हारी स्त्री ने केवल तुमसे विवाह किया था। उसका कोई स्वतन्त्र पेशा नहीं था। मैं भी विवाह करूँगी और उसमें तुम्हें निमन्त्रित करूँगी। बस, अब तुम जाओ। नहीं, एक शब्द नहीं।

(श्यामलाल—का प्रस्थान। चन्द्रावती घूमकर उधर देखती है जहाँ रामनाथ खड़ा था। रामनाथ इस समय वहाँ नहीं है। वह उसी ओर बढ़ती है और वह जहाँ खड़ा था वहीं बैठकर साड़ी से एक लिफाफा निकालकर खोलती है। अपने घुटनों पर पत्र को मोड़-खोलकर पढ़ने लगती है। रामनाथ का दूसरी ओर से प्रवेश। वह आगे बढ़ता हुआ चन्द्रावती के पीछे जाकर खड़ा होता है।)

रामनाथ—तो शायद यह प्रेम-पत्र है?

चन्द्रावती—(उसी तरह बैठी हुई) जनाब...तो आप उड़ कहाँ गये थे?

रामनाथ—(गम्भीर मुद्रा में) लिफाफे पर रंगीन फूल और कागज की कोर पर भी...इसीलिए मैंने कहा, यह कोई प्रेम...।

चन्द्रावती—(उसी तरह गर्दन घुमाकर उसकी ओर देखती हुई) तो शायद आपने भी इन रंगीन फूलों का उपयोग किया है। क्यों...।

रामनाथ—शायद मुझे शपथ लेने को तो न कहा जायगा।

चन्द्रावती—और अगर कहा जाय...।

रामनाथ—तब तो मैं कह दूँगा...किया है।

चन्द्रावती—(जैसे चौंककर) किया है? ऐं?

रामनाथ—(उसे पकड़कर जल्दी से उठाते हुए)

क्या हुआ ? बिच्छू तो नहीं काट गया तुम्हें ? उठो... उठो... ।

चन्द्रावती—(अलग हटती हुई) नहीं तो... बिच्छू कहाँ देख पड़ा तुम्हें ?...।

रामनाथ—तब फिर इस तरह तड़फ क्यों उठीं ? (उसकी ओर देखकर मुस्करा पड़ता है)।

चन्द्रावती—तुम्हें क्या हो गया है ?

रामनाथ—कुछ तो नहीं। तुम्हें क्या हो गया ? अपना प्रेम-पत्र मैं स्वीकार करता हूँ, लेकिन यह भी स्वीकार करता हूँ कि वह सब रंगीन सपना था। (मुस्कराते हुए) हम लोगों के वे दिन भी तो होते हैं—वे दिन रंगीन सपनों के और मेरे वे दिन तो बीत गये वर्षों पहले। में इतनी चतुराई से वह बीज हमारे भीतर बो दिया गया है जिसका न उगना ही चिन्ता और विस्मय का कारण है, उग आना तो उसका स्वभाव है।

चन्द्रावती—(पत्र उसकी ओर बढ़ाती हुई) इसे पढ़ो तो... ।

रामनाथ—(थोड़ी देर तक ध्यान से पत्र पढ़ने के बाद) वाह...यही दिया था ?

चन्द्रावती—नहीं... ।

रामनाथ—तब...इस पर तिथि तो आज की ही है।

चन्द्रावती—दूकान बन्द थी आज। दरवाजे के भीतर कदम रखने के साथ ही मेरी नजर मेज पर इस लिफाफे

अलग व्यवसाय नहीं होना चाहिए। श्यामलाल की स्त्री का कोई अलग व्यवसाय नहीं था न, इसलिए उसका कुछ बिगड़ा भी नहीं और वह अपना सब कुछ सुरक्षित अपने साथ लेती गई। (रामनाथ का हाथ पकड़कर) आ रहा है समझ में?

रामनाथ—(उसकी ओर ध्यान से देखकर) तो तुमने अपना हिस्सा भी श्यामलाल को दे दिया?

चन्द्रावती—हाँ। मुझे इसी में अपना कल्याण देख पड़ा। और फिर मैं दूकान पर सौदा बेचूं? तुम्हें अच्छा लगेगा यह?

रामनाथ—(प्रसन्नता में उछलते हुए) नहीं कभी नहीं। (उसके कन्धे पर हाथ रखकर) दकानदारी के लिए मैं बनाया गया हूँ। तुम नहीं (दोनों एक दूसरे को देखकर मुस्करा पड़ते हैं।)

१९३६

❀ ❀ ❀

'इस हाथ दे उस हाथ ले'

श्रीमान् राजा राधिकारमणप्रसादसिंह, एम० ए०, सूर्यपुराधीश

(१)

रेलगाड़ी की कर्कश खड़खड़ाहट में न जाने किस लय की लोच है, उसकी झकझोर-भरी फुदक में न जाने कैसी रेशमी थपकियाँ हैं कि सिगनल के बाहर जाते जाते मेरे दिमाग पर—अंग की पोर-पोर पर—नींद का गलबा शुरू हो गया—किसी सुखावेश की जड़ता छाने लगी। अखबार हाथ में लेकर बैठा था पढ़ने और यहाँ उँगलियाँ ढीली होने लगीं। भगवान् जाने, गाड़ी की इस फक-फक और घर्र-घर्र में किस गुल रंग की रूह उतर आती है, जिसकी मोहिनी माया चुपचाप मेरी इन्द्रियों पर गुलाबी नशा बरसा जाती है। मुलायम उँगलियों से तलवे सहलाने पर भी जिस नींद के लाले पड़े रहते हैं, मसहरी की झालरों के भीतर चूड़ियों की मीठी लोरियाँ जिसे बुला नहीं पातीं, उसी मायाविनी नींद को गाड़ी की तुमुल हलचल झोंके देकर जगा देती है। इस अचरज का कोई ठिकाना भी है? यहाँ न करवटें बदलनी हैं, न छाती से तकिया चिपटाना है, न आँखें मूँद कर आँख लगने की माला फेरनी है। यहाँ तो पहियों की 'चल काली कलकत्तेवाली' की बँधी हुई ताल पर उड़ते हुए स्वप्नलोक में दाखिल हो जाना है।

मैंने जिस सेकेंड क्लास के डिब्बे में कदम रक्खा था वह बिलकुल खाली था। बिछावन के गट्ठर को सिर का तकिया बना डाला और चारों खाने चित लेट गया। गाड़ी चली। मैंने फिर अखबार उठाया, पर पढ़ न सका। दिल कहता था, थोड़ा भी पढ़ लो, आँखें कहती थीं, एक हरूफ भी न पढ़ने दूँगी! लाचार गुनगुनाना शुरू किया।

शाम का झुटपुटा था। खपरैलों की झोपड़ियों के झुरमुट पर धुएँ का बादल छा चुका था। गाँव के किनारे, बगीचे में, सूखी टहनियाँ बटोरती हुई चुलबुली लड़कियों की किलोलें थीं। गेहूँ-भरे खेत की मेड़ों पर बैल हाँकते हुए लँगोट-बन्द किसान-बालकों की दिलचस्प अठखेलियाँ थीं। पेड़ों के बसेरे पर लौटती हुई चिड़ियों की चह-चही चहल-पहल थी। रेल की खिड़की से ये जीती-जागती तसवीरें किसी सुदूर मायामण्डित लोक की रहस्यमयी झलक-सी क्षण-भर दृष्टि-पथ पर चमक जातीं। कहीं-कहीं संध्या की विजनता में अंधकार की निविड़ता बे वजह काटने दौड़ती थी।

काफी ठंड थी। दाँत कटकटाने वाली सर्दी। पछुवे का झोंका तूस और पट्टू की धज्जियाँ उड़ाकर हड्डियों को हिला रहा था। मैंने कानों में गुलूबन्द लपेटा और चारों ओर से कम्बल समेट लिया। बस, झपकियाँ फिर शुरू हुईं।

हठात् किसी के क़हक़हे की आवाज़ कानों पर टकराई। देखा, तो सामने मथुरा बाबू मौजूद हैं। एक हाथ में

होमियोपैथिक दवाइयों का हैंड-बैग, दूसरे में तेजबल का मोटा डंडा।

मैं तो देखते ही सन्न हो गया। नींद तो काफूर हो ही गई, मानसिक सुखावेश का वह नशा भी हिरन हो गया। कहाँ मैं आराम से स्वप्नलोक की सलोनी तितलियों में हिल-मिल कर विचर रहा था, कहाँ अब बे-बात की बात पर घंटों सरमगजन की नौबत आ गई !

मथुरा बाबू सोसाइटी के ऐसे ख्वाहमख्वाह जेंटिलमैन हैं जो दोस्तों की गर्दन पर सवार होकर सिर खा डालते हैं। कोई लाख किसी उलझन में क्यों न हो, जहाँ आँखें चार हुईं कि उनकी जबान दिमाग चाटने पर चट आमादा हो गई। फिर तो जी मसोस कर सब्र करने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं रहता। जब वे बे-पर की उड़ाते हैं तब बेसाख्ता आसमान थाम लेते हैं। यहाँ की बात वहाँ, और वहाँ की बात यहाँ—यह तो चलता सिक्का है ही, साथ-साथ आपके दिमाग की टकसाल में ढली हुई लनतरानियों का तो कोई ठिकाना ही नहीं। आपकी आँख में तो न पानी टिकता है, न आपके पेट का पानी पचता है। सबसे अजीब बात तो यह है कि आप हर जगह रंग उखाड़ कर अपना रंग जमाना चाहते हैं—वह स्याह हो या सफेद। जहाँ ध्रुपद का रंग जमा है, वहाँ आप गजल की फरमाइश छेड़ बैठेंगे; जहाँ मनचले जवानों में दादरे की धुन छिड़ी हुई है, वहाँ आप ख्याल का खयाल दिलाने से बाज नहीं आते। पालिटिक्स की महफिल में अध्यात्म के मसले पेश करना आपकी खास आदत है। आस्तिक भक्तों की जमात में आप ईश्वर को दुर्बल-मस्तिष्क की औलाद ठहराकर उनकी खामखयालियों की खिल्लियाँ उड़ाना अच्छी तफरीह समझते हैं। आपके बँधे हुए जुमले सुनिए—"क्यों पंडत जी, क्या बगैर दैवी बर के या दैवी डर के यह मानव-प्रकृति कभी सन्मार्ग पर नहीं चल सकती ? क्यों, आदमी को इन्सान बनाकर रखने के लिए उसका ईमान काफी नहीं है ? किसी देवता या दीन के पाक फर्मान की हाजत है ? इस बोदी भक्ति, इस सिजदे की गुलामी के बदले अगर आप बुद्धि की शरण लेते तो एक पते की बात भी होती ! करुणामय ! पतित-पावन ! क्या खूब ! आपकी होलदिली ने तो करुणामय की बुनियाद डाली ! और माफ कीजिए, आप अपने को न पातकी करार देते और न इस दुनिया में पतितपावन की डौंडी पिटती !"

इधर जड़वाद के हिमायती कालेज के आलोक-प्राप्त नवयुवकों की टोली में अनहोनी और अलौकिक दैवी घटनाओं की व्याख्या करके उनके दिमाग को दंग कर डालने में भी खास मजा है। "सुनिए साहब, आखिर इन्द्रियों की दौड़ एक हद तक ही मुमकिन है। जो रहस्य कुदरत के पर्दे में रू-पोश है उसका पता आपकी इन्द्रियाँ बेचारी कहाँ तक दे सकती हैं ? वहाँ तक इनकी गुजर नहीं। सिर्फ इसी लिए उस अदृश्य सत्ता की स्थिति ही नहीं, यह भी कोई बात है ?"

ग़रज़ यह कि दुनिया के तमाम मसलों में आप अपनी टाँग अड़ाने से बाज नहीं आते, वह सीधी हो या टेढ़ी। यों तो आपकी बात सुनने वालों को लबड़धोंधों नहीं—माकूल ही जँचती है। हाँ, यह बात और है कि वह उस वायुमंडल के अनुकूल भले ही न हो ! बस, लुत्फ यह है कि हम जिस चित्र का उज्ज्वल पक्ष देखना चाहते हैं उसका श्याम पक्ष दिखाये बिना आप दम नहीं लेते, और जिस डाल पर फुदुक कर बैठ गये, वहाँ कोई गुल खिले या न खिले, आप बिलकुल बुलबुल बन गये !

मथुरा बाबू होमियोपैथिक डाक्टर हैं। बात बात में नक्स और पलसैटिला। सल्फर और चाइना की चर्चा आम बात है। आपके होमियोपैथिक बूँदों की करामात के किस्से सुनते सुनते तमाम मुहल्लेवालों के कान पक गये, फिर भी उन लनतरानियों का सिलसिला कभी रुकता नहीं। बयान की बन्दिश में आप इस तरकीब से नमक-मिर्च लगा देते हैं कि उनका मजा न कभी फीका पड़ा, न पड़ेगा। शुरू होते देर न लगी कि बादल की तरह उमड़कर मजलिस पर छा गई। हाल में ही आपने रामू की बहू के पेट से मरे हुए बच्चे को एक बूँद पलसैटिला पर बगैर कल-काँटे के बरामद कर लिया था। इस किस्से को मुहल्ले के बूढ़े-बच्चे दर्जनों बार सुन चुके हैं, मगर फिर भी उस पर जंग नहीं चढ़ता। इन क़तरों में आबे-हयात का जो दरिया खेलता है उसे मरीज समझे या न समझे, मैं एलियोपैथिक डाक्टर होकर भी दसों नख जोड़े तस्लीम करने को तैयार हूँ। बगैर इसे तस्लीम किये तो मेरा

गुजर ही नहीं, अगर मुझे आदमी के लिबास में रहकर अपनी खोपड़ी की सलामती मंजूर है !

आपकी रूप-रेखा, आपकी वेश-भूषा, एक-एक का जवाब है। मयाना कद, सिर पर घुँघराली बुलबुली, चुंधी चुहल-भरी चितवन, नाक पर ऐनक, टूथब्रश की तरह छँटी मूँछें, बाईं कनपटी पर मस्त एक मस्सा, घुटी दाढ़ी, गालों में भरी गिलौरी, खालतेदार पाजामा, भागलपुरी सिल्क का कोट और सिर पर विलायती हैट।

"मथुरा बाबू ! आप यहाँ कहाँ से चू पड़े ?"

"मत पूछिए, मर गया !"

"क्यों, खैरियत तो है ?"

"जनाब, मरीज़ तो जिन्दा हुआ, मगर मेरी जान निकल गई। जिस वक्त मैं रसूलपुर पहुँचा, रात आधी से ज्यादा गुजर चुकी थी। देखा, मरीज़ की नब्ज छूट रही है। कालरे ने कल्ला दबा दिया था। हाथ-पैर पड़ चुके थे। घर में बावेला मचा था। दो-दो डाक्टर माथे पर हाथ रक्खे हाथ मल रहे थे। मैंने समझा, मामला खत्म है। और साहब, मैं तो दवा करने आया था, कुछ जादू या करामात दिखाने नहीं। मगर भई, वाह री चाइना ! एक ही बूँद ने तो मुर्दे में जान डाल दी।"

"करामात !"

"और क्या ? आपने सुना ही होगा, रामू की बहू बेचारी पेट में बच्चा लिये टन बोल जाती, डाक्टरी छुरी भी उस पर चल गई होती, मगर......"

"जी हाँ, सुन चुका हूँ। मैदान मा......"

"महज़ एक कतरे की करामात थी जनाब ! आखिर आप भी डाक्टर हैं। आपरेशन की छुरी या इंजेक्शन की सुई बगैर लहू निकाले तो बेड़ा पार न होता।"

खैर, गाड़ी रुकी। कलाम की दौड़ हठात् टूट गई। एक रेलवे अफसर कोट-बूट में लैस गाड़ी में दाखिल हुए।

क़ैसर की-सी कड़ी मूँछें, गोल गंजा सिर, दिमाग में चूर चितवन। आपने एक बार ज़रा गौर से हम लोगों को घूरकर मुआइना किया। फिर जेब से तपाक के साथ पाइप निकालकर राख झाड़ी, उसमें नया तम्बाकू ठूँसा और दियासलाई लगाई। उधर वाले तीसरे बर्थ पर जा कर डट गये। कुली ने सूट केस और होल्ड-ऑल लाकर रक्खा। साहब का खानसामा टिफिन-बॉक्स लिये सबसे पीछे दाखिल हुआ।

डिब्बे में असबाब काफी था। खानसामा ने ऊपर का बर्थ खोलकर उसी पर टिफिन-बाक्स रखना चाहा। उसने बॉक्स ऊपर उठाया ही था कि एक झोंके का धक्का देकर गाड़ी खुल पड़ी। बॉक्स हाथ से छूटकर तड़ाक से बीचवाले बर्थ पर जा पड़ा। खैरियत थी कि मथुरा बाबू उधर नहीं बैठे थे। छुरी, काँटे, प्लेट, वगैरह झनझना उठे। बिस्कुट और चाय के डिब्बे तखड़-पखड़ हो गये। साहब की जबान से 'यू डैम निगर' की गुर्राहट-भरी आवाज निकली और उसने बे वजह तैश में आकर झुके हुए खानसामे की पसलियों पर ताबड़तोड़ दो-तीन जबर्दस्त बूट की ठोकरें रसीद कर दीं। खानसामा बेचारा ऐंठ गया। चोट सख्त थी। उसकी आँखों में लहू उतर आया। उसने एक बार चितवन तरेर कर साहब बहादुर को देखा। ललाट पर नसें उभड़ पड़ीं। होठों के पल्ले फड़फड़ा उठे। मगर दूसरे ही क्षण भीगी बिल्ली की तरह सटककर एक कोने में खड़ा हो गया।

मथुरा बाबू उचककर मेरे बर्थ पर चले आये। साहब ने एक बार उसी रोब से हम दोनों की ओर टेढ़ी आँखों से देखा और फिर भुनभुनाते हुए बाथ-रूम में दाखिल हो गया।

"सरासर जुल्म है ! कोई छाती का पोढ़ होता तो आज हज़रत के सिर का भूत उतार देता।" मैंने दबी ज़बान से कहा।

"आप भी कैसी बातें करते हैं ? कोट-बूट के मुक़ाबिले बड़े-बड़े जवानों की धोती ढीली हो जाती है।"

"भई, वह ज़माना लद चला। आखिर तो ईश्वर है। कब तक किसी की नादिरशाही निभेगी ? गरीब की आह......"

"साहब, कहाँ का ईश्वर !—

'रगों में दौड़ने फिरने के हम नहीं कायल
जब आँख ही से न टपका, तो फिर लहू क्या है ?'

भला उन्हें नन्दनवन की सैर से फुर्सत कहाँ ? किसी ज़माने में उन्होंने किसी बेबस की फरियाद सुन ली होगी—

किसी अबला की पुकार पर दौड़ पड़े होंगे, मगर आज तो तमाम मुल्क बरसाती चींटियों की तरह बेबसों से भरा पड़ा है। अब वे किस-किस की पुकार पर कमर कसते फिरेंगे? आप क्या समझते हैं कि खुदा मियाँ साहब की गोशमाली के लिए अपनी उँगली उठायेंगे? साहब, 'वे दिन चले गये जब पसीना गुलाब था'।"

गाड़ी स्टेशन पर जा लगी। मथुरा बाबू फौरन पान की तलाश में प्लेटफार्म पर उतर पड़े। खानसामा बेचारा सिर झुकाये कोने में ज्यों-का-त्यों खड़ा रहा। उसकी सूरत पर मुझे तरस आया। मैं आहिस्ता से उसकी ओर मुड़ा और अपनी हमदर्दी जाहिर की।

उसने कनखियों से अपनी कृतज्ञता दिखाई और उँगली उठाकर गुसलखाने की ओर इशारा करते हुए साँस में कहा—"क्या करूँ बाबू जी, छाती फाड़कर खटना है। मेरी कमाई पर कितने बेबसों की रोटियाँ चलती हैं; नहीं तो भला मैं इस ज़ालिम की जूतियाँ सीधी करता?"

मैं चुप हो गया। सिर पर पैर रखनेवाले कभी सिर ऊँचा नहीं कर पाते।

हठात् किसी के गाने की आवाज कान पर पड़ी। मैंने खिड़की से झाँककर देखा, एक बूढ़ा बैरागी लाइन के उस पार खँजड़ी बजा-बजाकर मीठे स्वर से गा रहा था—

"तेरी करनी मुझे लौटकर रस देगी या रिस देगी।
तेरी नीयत फूल-फैल कर मधु देगी या विष देगी॥

भला कर तेरा भला होगा।
बुरा कर तेरा बुरा होगा॥"

मेरे कान खड़े हो गये। बड़ी तन्मयता से सुनता रहा। सच है, दिल डालने से दिल मिलता है। घात के बराबर ही प्रत्याघात होता है। मगर.....

ट्रेन की सीटी पड़ी। मथुरा बाबू पान चबाते कमरे में दाखिल हुए। इधर साहब बहादुर गुसलखाने से हाथ-मुँह धोये, बाल सँवारे, निकले। सोप और क्रीम की एक भीनी खुशबू चारों ओर बिखर पड़ी।

ट्रेन चली। मैंने जेब से एक एकन्नी निकालकर भिखारी की ओर फेंक दी।

साहब ने टिफिन बाक्स खोला। एक लम्बी-सी बोतल निकाली। कागज में लपेटा हुआ गिलास बाहर किया। सोडावाटर की बोतलें नमूदार हुईं। पेग का वक्त हो चुका था। निशादेवी की आराधना के लिए ह्विस्की का अर्घ्य देना ज़रूरी था।

साहब ने गिलास में मये-गुलरंग को ढाला—डबल डोज़। गिलास को ऊपर उठाकर पैमाने का मुलाहज़ा किया। फिर सोडावाटर की बोतल खोलने की तदबीर में मसरूफ हुए। कोई तदबीर हाथ न आई। ह्विस्की की गंध दिमाग में चक्कर काट रही थी। पैमाने पर निगाह पड़ी तब जान होठों पर आ गई। आपने चट घुटने टेक कर बायें हाथ के अँगूठे को बोतल के मुँह पर रक्खा और दायीं तलहथी से भरपूर जोर लगा दिया। जोर पड़ा तब बन्दूक छूटने की आवाज के साथ बोतल का अंटा उड़ा और साहब बहादुर की कनपटी पर जा लगा। शायद बोतल में गैस ज़रूरत से ज्यादा था। इसी लिए वह शीशे की गोली कारतूस की गोली बन गई। करारी चोट थी; हज़रत वहीं अंटागफील हो गये। शीशे के टुकड़े उड़कर पुटपुर में धँस गये। खून की दो-एक बूँदें टपक पड़ीं। खानसामे ने दौड़कर साहब का सिर थाम लिया। सुराही के पानी में रूमाल भिगोकर पट्टी बाँध दी।

हिन्दुस्तानियों की छाती में गुर्दा भले ही न हो, कुछ दिल की कमी तो होती नहीं। मैं तो हक्का-बक्का-सा देखता रहा, पर मेरे मित्र मथुरा बाबू होमियोपैथी का बैग खोल-कर आगे बढ़े। उनकी स्नेह-भरी वाणी साहब के कानों में तो जरूर पड़ी होगी, मगर शायद दिल तक नहीं उतरी। उसने फिरकर देखा तक नहीं। लपककर ह्विस्की का गिलास उठाया और एक साँस में साफ कर डाला। मथुरा बाबू मुँह लिए मेरे बर्थ पर आकर बैठ गये। मैंने झुककर उनसे कहा—"कहिए किबला, गरीब की ओर से तो भग-वान् ने बदला दे दिया। 'इस हाथ दे उस हाथ ले' का मजमून देखा आपने!"

"आप भी कैसी बातें करते हैं डाक्टर साहब! यह महज़ शुदनी वक्त है। खुदा मियाँ अगर इस तरह बदले चुकाते फिरें तो शायद उन्हें दम मारने तक की फुर्सत नहीं मिल सकती। आज दुनिया का इतिहास ही कुछ और होता। कमजोर के सिर पर पैर रखकर ऊपर

चढ़ने वाले सितारों के ताज के बदले काँटों में रेंगते रहते और....."

मथुरा बाबू एक लम्बी स्पीच झाड़ गये। उनकी दलीलों का जवाब देना तो छत्ता छेड़ने का मजमून होता। कहीं अड़ जाते तो मेरे दिमाग के भेजे उधेड़ डालते। मैं बुत की तरह सुनता रहा और जब तक गाड़ी मुंगेर नहीं पहुँची तब तक छत्ते की भनभनाहट-सी बातों की बौछार थम-थमकर उपटती रही।

(२)

जाड़े के दिन तो बहार की रात की तरह हवा के घोड़े पर सवार आते हैं। आये नहीं कि जाने की धुन पड़ी। जिस गरमागरमी से सर्दी की सुबह के घंटे अपनी ड्यूटी बजा देते हैं उस गरमागरमी से रोगियों के घर-घर चहल-कदमी तो मुमकिन नहीं। यहाँ तो गर्म-सर्द उठाना है, पाकिट भरने के पहले दस का मन भरना है, बात पीना है, बात बनाना है। यह सब बातें कुछ बात की बात में अंजाम नहीं देतीं। डाक्टरी का पेशा सरकन्दनी का पेशा है।

दिन चढ़े तो घर से निकला था, घर लौटते-लौटते पित्त चढ़ गया। इधर चौखट पर कदम रक्खा, उधर एक का घंटा पड़ा। श्रीमती जी की गरम चितवन देखी तब सर्द हो गया।

"अब आ रहे हो मुझे जलाने! सारी चीजें ठंडी हो गई। मैं तुम्हारे लिए फिर चूल्हा गरम करूँगी? बाज आई इस....."

"माफ करो। मिजाज गरम रखने के बदले तुम खाना गरम रखती तो एक काम की बात होती।"... मैंने जरा दबी जबान से छेड़ा।

"तुम्हीं गरम करो। मुझसे......"

"कोई मुजायका नहीं। भात ठंडा होने से तुम्हारे मिजाज का ठंडा होना कहीं ज्यादा जरूरी है। इसे ठंडा करो। फिर रसोई के गर्म होने में एक पल भी नहीं लगेगा।"

श्रीमती जी झनककर चौके से उठ पड़ीं, बड़बड़ाती हुई ओसारे की ओर बढ़ीं। आखिर मैंने जबान को मुंह में रक्खा और दो-चार गरम-गरम नज़र नेयाज़ कर उन्हें ठंडा किया।

खैर, मेरी मरम्मत के बाद उनकी तबीअत ठंडी हुई। आग की मरम्मत तो चन्द लहमों में हो गई। उपलों की आँच पर रोटियाँ खिल उठीं। मैंने रोटी से निबट कर थोड़ी देर लोट-पोट करना चाहा। आँगन की धूप में चौकी डाल दी थी। आकर लेट गया।

जनवरी की दुपहरिया थी। जाड़े की गुलाबी धूप, कड़ाके की सर्दी, पछुवा हवा बरामदे के सामने, मौलसिरी की पत्तियों में, हरहरा रही थी। वहाँ से उचकती तो छाती की पंजरियों को कँपाकर दम लेती। मुन्नी चारों ओर आँगन में दौड़-दौड़ कर किलकारियाँ भरती, घुँघराली काकुलों को नचाकर गुड़ियों के गीत गाती। उसकी मा ओसारे में बैठी गोद के बच्चे को दूध पिला रही थी।

हठात् किवाड़ पर खटखट की आवाज आई। वे उठकर कमरे में चली गईं। मैंने जरा उचककर आवाज दी—"कौन है?"

मथुरा बाबू थे। वही डंडा, वही हैंड-बैग। मुझे जरा हैरत-सी हुई। आपका वसूल था—'खुदा के घर भी न जायँगे बे-बुलाये हुए' और खास कर इस वक्त। शाम की बात और है। वह सैर-सपाटे के लिए एक हद तक चल भी सकता है।

मथुरा बाबू मेरे पड़ोसी जरूर थे। मगर हमपेशा होने की वजह से आपस में वैसी मिल्लत मुमकिन नहीं थी।

मथुरा बाबू के हमराह एक शख्स और थे, जिन्हें मैं पहचान न सका। बूढ़े खबीस, कमर ही महज झुकी नहीं थी, चेहरे की झुरियाँ-भरी खाल तक लटक गई थी। ऊँचे ललाट पर लटों की छाजनी दूर से सफेद लटपटी पगड़ी-सी नजर आती थी।

"आप इन्हें पहचानते नहीं। मेरी बस्ती के बूढ़े बाबा हैं।"

"बस्ती के या आपके?"—मैंने जरा हँसकर पूछा।

"अजी तमाम जवार के! आज-कल यहीं शहर की खाक फाँक रहे हैं।"

"क्यों खैरियत तो है? कहाँ ठहरे हैं?"

"नजदीक ही—इसी मुहल्ले में। लड़की सख़्त बीमार है।"

"क्या तकलीफ़ है?"

"इसी मशविरे के लिए तो आपकी तलाश है। बुखार के जोर को तो मैंने तोड़ डाला, मगर अभी सीने में जुकाम का शोर मौजूद है।"

"न्यूमोनिया तो नहीं है?"

"आसार तो ऐसे ही हैं। खैर, चलिए तो सही।"

मैंने खूंटी से कोट उतारकर पहन लिया। कंधे पर शाल रक्खा, जेब में इस्टथेस्कोप। साथ चल पड़ा।

दुतल्ला मकान था। छोटा-सा पुराना। दीवार में ईटें दांत निपोरे खड़ी थीं। उनकी फाँकों में कहीं-कहीं घास-पत्ते उग आये थे। मकान में चूना पुता तो ज़रूर था, पर सफेदी में स्याही और स्याही में मटियाली छाप जगह-जगह मौजूद थी। सामने नाली से सड़ी बू उठकर दिमाग को मसल रही थी। रास्ते पर रात के जूठे भात के दाने सफाई की दुहाई दे रहे थे। कौओं की एक पाँत उसी ढेर पर आपस की छीना-झपटी की शोरिश से मध्याह्न की उदास नीरवता में एक विचित्र राग भर रही थी।

हम लोग भीतरी ओसारे की सीढ़ी से ऊपर चढ़ गये। बूढ़े लाला को ऊपर चढ़ना आफत का सामना था। मगर बेचारे किसी तरह काँख-कूँख कर हाथ-पैर दोनों की मदद से मंजिल पर पहुँच गये।

ऊपर एक तंग खुली छत थी। बाईं ओर एक जरा कुशादा कमरा था। उसी में हम लोग दाखिल हुए। सामने दो टूटी कुर्सियाँ रक्खी थीं। एक छोर पर बाबा आदम के वक्त की एक पुरानी मेज थी। बीचो-बीच कमरे में एक अधेड़ औरत खाट पर लेटी हुई उसाँसें भर रही थी। पैताने एक बुढ़िया अपने आँचल के छोर से रोगी के तलवे सहला रही थी।

हमारे आते ही वह बुढ़िया आँचल सँभालती हुई उठी और सीढ़ियों की ओर मुड़ी।

"कहाँ चली?"—बूढ़े लाला ने जरा तमक कर पूछा।

"बाजार।"

"रामू कहाँ है?"

बुढ़िया ने अनामिका को लाला जी के दृष्टि-पथ पर नचा कर कहा—"हम का जानी साहब?"

शहर की दाई थी। शहर की बेहयाई थी।

लाला जी मुँह बनाकर चुप हो गये।

मैंने मरीज़ का मुआइना शुरू किया।

मथुरा बाबू सिरहाने की ओर कुर्सी खींच कर जा डटे।

रोगिनी बिलकुल मजबूर थी। बुखार का ग़लबा तो था ही, साँस भी गले में फाँस-सी अटकी थी। उसके जर्द चेहरे की सूखी पपड़ियों पर उसके जीवन का करुण इतिहास साफ लिखा था। बेचारी विधवा थी। शायद जिन्दगी की तलछट ही उन प्यासे होंठों को नसीब रही।

मैंने नब्ज़ पर उँगलियाँ जमाई। जेब से घड़ी निकाल कर चींटी की चाल-सी ठोकरों को गिनने लगा। पचास तक भी नहीं पहुँच पाया था कि हठात् एक कर्कश आवाज कान पर टकराई। खयाल बँट गया। मैंने दुबारा गिनना चाहा। फिर वही आवाज़—दिल दहलानेवाली ज़ोरदार आवाज़; आँधी के हाहाकार-सी, बाढ़ की फुंकार-सी। दोतल्ले के ऊपर कोई हवाई जहाज पास कर रहा है। नहीं-नहीं, नीचे जमीन की तह में कोई मशीन धमक रही है।

आवाज़ बढ़ी। छत थर्रा उठी। दीवारें काँपने लगीं। कुर्सियाँ खड़खड़ा पड़ीं। कलेजे में एक हूक-सी उठी। छाती धक्-से कर गई। बात क्या है? सिर चक्कर काटता है या जमीन चक्कर काट रही है? मैं गिरा चाहता हूँ या छत गिरा चाहती है? मैंने कस-भर दिल को थामा। आँखें उठाकर बूढ़े लाला को देखा। उन्होंने आँखें फाड़कर मुझको देखा। जो हालत इधर थी, वही उधर भी। हठात् मथुरा बाबू कुर्सी से उचक पड़े—"अजी, भूडोल है भूडोल! भागिए-भागिए।"

मैं तत्क्षण सचेत हो गया। परिस्थिति साफ हो गई। लपककर मथुरा बाबू का हाथ थाम लिया। वे सीढ़ी की ओर कदम उठा चुके थे।

"वाह! पहले मरीज़ को तो उठाते चलिए। आपके बूढ़े बाबा तो अपनी देह तक नहीं सँभाल पाते।"

"साहब, मैं घर का कुछ फाजिल नहीं हूँ। मेरी बीबी...... बच्चे......"

मथुरा बाबू का चेहरा फ़क़ था। वे झटके से हाथ छुड़ाकर सीढ़ी की ओर मुड़े।

"भरोसा रखिए, ईश्वर है।"—मैंने जरा डपटकर कहा।

"आपके होंगे। मैं इस खामखयाली में......"

मथुरा बाबू की बात पूरी भी न हो सकी। बात की बात में वे सीढ़ियों से बदहवास गिरते-पड़ते उतर गये।

हठात् एक ज़बरदस्त धक्का-सा लगा। यह जलज़ले का दूसरा झोंका था। श्रोसारे का बालारेज़ धड़ाक-से तिलमिला कर जा पड़ा। जर्रे-जर्रे पर धूल-कंकड़ छा गया। ज़र्रे-ज़र्रे पर आतंक छा गया। उधर रोड़े उड़े, इधर जी उड़ गया। मेरे भी पैर उखड़ चले। छत से एक ईंट टूट कर मेरी कनपटी पर रेंगती हुई मुंडेरे पर गिरी। खोपड़ी भिन्ना गई। कड़ियाँ जोड़ों से उखड़ पड़ीं।

भाग कर जान बचा लूँ। इन दो बेबसों को पिस कर ढेर होने दूँ? नहीं-नहीं, अचानक मेरे दिल के कानों में किसी ने झुककर कहा—"तू इन बेबसों की मदद करता है तो तेरी पीठ पर मैं हूँ।" उस विकट संकट के चरम मुहूर्त पर वही परसों रातवाली ट्रेन का दर्दनाक सीन मेरी मानस-दृष्टि पर चमक उठा और उस वैष्णव बैरागी का मर्मस्पर्शी गान मेरे हृदय के पंजरों में गूँज उठा।

मुझमें कहाँ का साहस समा गया! मेरी नसों में जीवट की बिजली दौड़ पड़ी। मैंने तड़-से उस मरीज को दोनों हाथों से उठाकर कंधे पर लाद लिया और बूढ़े लाला की कमर में एक हाथ का सहारा देता हुआ जीने की ओर बढ़ा। कमरे की दीवारें चक्कर काटकर धड़ाम-से आँगन में जा गिरीं। एक पल की भी देर हुई रहती तो हम तीनों उसी ईंट के ढेर में दफन हो गये रहते। झिकड़ियों ने उड़ उड़कर मुझे चारों ओर से घेर लिया। झटके की चोट भी लगी, मगर मैं रुका नहीं। किसी तरह गिरते-पड़ते ज़मीन पर आ गया।

मैं इधर सीढ़ियों से उतरा, उधर सीढ़ियों का एक हिस्सा भुस्सियों की तरह उड़कर ढेर हो गया। बूढ़े लाला की रीढ़ की हड्डियाँ छिल गईं। मगर बेचारे किसी तरह सिसकियाँ भरते जिन्दा निकल आये।

मकान के सामने एक थोड़ी-सी खुली जगह थी। वहाँ मातम का मजमा था। कितने लोग चिल्ला-चिल्ला कर छाती पीट रहे थे। जान लेकर भाग तो आये, पर बिछुड़े कुटुम्बियों के लिए जान दे रहे थे। उस हाहाकार की विभीषिका में श्मशान की शून्यता भी मिल रही थी।

वहीं बड़ के पेड़ के नीचे किसी की एक टूटी खाट पड़ी थी। उसी पर मैंने रोगिनी को लिटा दिया। उसके इर्द-गिर्द अपना शाल लपेट दिया। और बूढ़े लाला को निगरानी का भार सौंपकर घर की ओर दौड़ा।

दौड़ना नामुमकिन था। पैरों पर लरज़ा, ज़मीन पर जलजला। फिर भी बदहवास दौड़ा। गिरा और उठा और दौड़ा। सड़क के दोनों जानिब प्रलय की ताण्डव-लीला थी। प्रकृति की विकट भृकुटी देखी—तले की दुनिया ऊपर जा रही थी। दीवारों का हिलना, लरजना, लड़-खड़ाना, चक्कर काटना, तड़ाक-से फटना, कटे रूख की तरह अररराकर गिरना और फिर ज़मीन से उड़कर आसमान पर बादल की तरह छा जाना—एक दर्दनाक नज़ारा था।

मकान आते-आते जलज़ले का ज़ोर खत्म हो चुका था। मैं मकान पर पहुँच तो गया, मगर वहाँ मकान था कहाँ! मैं आँखें फाड़ मुँह बाये खड़ा हो गया। सामने ईंट, पत्थर, लोहे-लक्कड़ का एक अम्बार था। मैं कमर थाम कर बैठ गया, फिर दिल थाम कर उठा और पुकारा—"मुन्नी!"

कोई आवाज नहीं। मेरे पाँव-तले से ज़मीन निकल गई। जलज़ले का तमाम लरज़ा मेरी पोर-पोर में समा गया। मैं थर-थर काँपने लगा। जान उचक कर होठों पर आ गई। होंठ आप ही आप हिल पड़े। मैंने फिर आवाज़ दी—"मुन्नी! मुन्नी ओ मुन्नी!"

"मैं यहाँ हूँ बाबू जी! इधर आओ।"

"और तुम्हारी माँ, बच्चा!"

"सब यहीं हैं।"

मैं किसी तरह उन ईंटों के स्तूप पर चढ़ गया। कुदरत का तमाशा था। मूसा ने तूर की तजल्ली देखी। मकान चारों ओर से बैठ गया था, मगर मेरी स्त्री गोद के बच्चे और मुन्नी को छाती से सिमटाये आँगन के बीचोबीच बेदाग खड़ी थी। उनके सिर और शरीर पर गर्द तो ज़रूर बेशुमार थी, मगर कहीं एक चीस तक नहीं।

छाती उमड़ आई। आँखों में आँसू उछल पड़े। मेरा एक-एक रोआँ न-जाने किस आवेग से फरफरा उठा।

मुझे अब मुहल्लेवालों की फिक्र पड़ी। मुड़कर सड़क पर कूद पड़ा। दो कदम आगे बढ़ा होगा कि मथुरा बूबा का भतीजा रोता-कलपता सामने नज़र आया।

"क्यों, क्या हुआ, बाबू ?"

"डाक्टर साहब, क्या बतावें, मेरा भरा घर उजड़ गया। चचा तो ज्यों ही मकान में दाखिल हुए कि तमाम घर मड़मड़ाकर बैठ गया। हाय ! सारा परिवार पिसकर ढेर हो गया। हाय ! हाय !!"

"तो आखिर उन्हें निकालने का भी तो बन्दोबस्त करना ज़रूरी है। तुम्हें ताल ठोक कर.... !"

"आप ज़रा सामने निगाह तो डालिए। इस अम्बार के नीचे हाथी का तो पता नहीं चल सकता, आदमी की क्या बिसात ?"

मैंने आँखें उठा कर देखा। ईंट-पत्थर का एक पर्वत-सा खड़ा था। इधर-उधर लोहे की कड़ियाँ बिखरी पड़ी थीं। बस, और कुछ नहीं। हाँ, मथुरा बाबू का वह परिचित हैंडबैग झटका खाकर सड़क की एक ओर मुँह बाये लुढ़का पड़ा था। उसकी आबे-हयात की शीशियाँ चूर-चूर होकर धूल में लुण्ठित थीं; और शुगर-ऑफ मिल्क की फूटी हुई बोतल के पेंदे में, बिखरे हुए चीनी के दानों पर, दो कौए झपट-झपट कर चोंच मार रहे थे।

१९३६

❀ ❀ ✻

वे बच्चे....!

श्रीयुत मोहनलाल महतो

(१)

जेठ का महीना था। हरिपुर गाँव से बहुत दूर ऊसर और खेतों के उस पार जो पक्की सड़क गई थी, वहाँ दो-तीन छोटी-छोटी दूकानें दिन में नजर आती थीं। हरिपुर, सहदेव-नगर जैपुरवा आदि गाँवों को जाने-वाले यात्री यहीं 'बस' से उतर पड़ते थे और यही कारण था कि सत्तू, तम्बाकू, तेल की जलेबियों और कचौरियों की दो-तीन दूकानें खुली नजर आती थीं। दूर-दूर से आकर, अपनी छोटी पूँजी के बल पर जीवन-नैया को पार लगाने की हिम्मत रखने वाले, दो-चार देहाती यहाँ दूकान लगाकर बैठा करते थे। मोटर, यहाँ यों भी, प्रायः एक घंटा ठहरता था और यात्रियों को—दूर जाने वाले ग्रामीण यात्रियों को—कुछ देर ठहरने का अवसर अनायास मिल जाता था।

एक पक्का कुआँ और बड़-पीपल की छोटी-सी छायादार बारी—बस, यही उस स्थान की रौनक थी; सजावट थी; सुन्दरता थी। दोपहर को जब आकाश तवा-सा तपता और भूमि भट्ठी की तरह भभकती तो इसी बारी में हरिपुर वगैरह के गाँवों की ओर जाने वाले यात्री विश्राम करते या बगल के ताड़ीखाने में जाकर शिमला, दार्जिलिङ, मंसूरी, उटकमंड का लुत्फ दो-चार आने में आसानी से उठाते। ताड़ के दो-चार पत्तों से छाया हुआ यह ताड़ीखाना अपने भीतर भिनभिनाती हुई मक्खियों से घिरे रहने वाले ताड़ी के बड़े बड़े मटकों को छिपा कर मानो ताड़ी पीने वाले रसिकों का मन बलपूर्वक हरण करता था। मिट्टी से भली भाँति पुती हुई भूमि पर, टूटे चुक्कड़ों और अधजली बीड़ियों पर, झुंड के झुंड हरीहरी घिनौनी मक्खियाँ भिनभिनाया करती थीं।

इस बाजार में हरिपुर के दो बच्चे भी आते थे—तेल की जलेबियाँ और कचौरियाँ बेचने। पहले इनका अभागा बाप आता था, पर जब से वह मर गया, अपने पैत्रिक व्यवसाय को दोनों बच्चों ने सँभाला। एक बच्चा करीब बारह साल का था और दूसरा छः साल का—दोनों दुर्बल और रोगी, जैसे नंगधड़ंग बच्चे आम तौर पर, आधा पेट खाकर जीवन का दुर्वह भार ढोने वाले, देहातों में, गाँव के खेतों में या तो ढोरों के साथ या गलियों में ईंट-पत्थर चलाते हुए और गालियाँ बकते हुए नजर आते हैं।

दोनों भाई नित्य दो कोस चलकर आते और जो कुछ

मिलता ले-देकर घर की ओर चले जाते। लकड़ी के एक चौकोर तख्ते में कई खाने बने हुए थे और उनमें बाँट, तराजू, जलेबियाँ, कचौरियाँ आदि सामान रक्खा हुआ होता तथा ऊपर से एक अत्यन्त गन्दा तेल से भरा हुआ कपड़ा ढँका होता, जिससे पुराने जले हुए तेल की दुर्गन्ध सदा निकलती रहती। यही खोन्चा था, जिससे एक परिवार का पालन-पोषण होता था। सड़क के किनारे बैठ कर दोनों बच्चे अपना सौदा बेचा करते और फिर जो बच जाता उसे लेकर घर की ओर चल पड़ते। भूखे रहने पर भी कभी कचौरियों या जलेबियों पर हाथ नहीं डालते। घर पर बैठी हुई अपनी मा का स्नेह-मिश्रित भय इन्हें सदा सीधे पथ पर चलने के लिए बाध्य करता। माता का स्नेह इनके नन्हें-नन्हें हृदयों को ताजा रखता, इन्हें मुर्झाने न देता और भय सदा इन्हें सतर्क रखता। मा से दूर रहते हुए भी ये बच्चे यही अनुभव करते कि मा की दो बड़ी बड़ी स्नेहपूर्ण आँखें इन्हें आकाश से, वृक्षों के झुरमुट में से, धूलि के बवंडर के भीतर से, झमाझम बरसने वाले काले-काले बादलों के भीतर से लगातार देख रही हैं—ये गाँव से दूर, स्वतन्त्र नहीं हैं, बल्कि अपनी माता की सदा सतर्क आँखों के पहरे के भीतर ही हैं।

दोनों बच्चे अपनी मा के दिन-रात, इहलोक-परलोक, साहस-कर्तव्य, हँसी-रुदन, सुख-दुख और जीवन और मोह जैसे थे।

(२)

हाँ, जेठ का महीना था और लू की गर्जना से शून्य भर गया था। जेठ की जलती आँखों के सामने ठहरने का साहस किसे था? प्राणी-मात्र छाया या शरण की टोह मे व्याकुल थे। अग्निस्नान करके, लंका में रोक रक्खी जाने वाली वैदेही की तरह, धरिणी शुद्ध हो रही थी। हवा के गरम झोंकों से कच्ची सड़कों की धूलि बवंडर की तरह उड़ती थी। अस्तव्यस्त पंखों वाले पञ्छी, डालों पर चोंच खोल कर हाँफते हुए, नज़र आते थे। आकाश का रंग मटमैला दिखलाई पड़ता था। जेठ के रूप में अपनी तीनों आँखों को खोल कर मानो प्रलयंकर नटराज नृत्य कर रहे हों।

दिन चढ़ रहा था। एक मोटर-लारी आई और कुछ देर ठहर कर चली गई। दो-चार यात्री उतरे और सीधे पगडंडी की ओर मुड़कर चलते बने। दूसरी लारी आई। इसमें बारात थी। बराती गाते-बजाते जा रहे थे। यह रिज़र्व गाड़ी थी, फिर भी कुछ देर को ठहर गई। बच्चों ने कुछ जलेबियाँ और कचौरियाँ बेची भी—कुछ सौदा हो गया। दिन और चढ़ा। १० का समय हो गया। लू के थपेड़े ज़ोरदार हो गये—बवंडर का ज़ोर बढ़ा। पड़ाव उजाड़-सा हो गया। दूकानदार दोपहर बिताने के लिए घनी बारी की ओर चले। दोनों बच्चों ने भी घर की ओर जाने की तैयारी की। इनकी मा इधर कई दिनों से रुग्ण थी। घर पर मा को अकेली छोड़कर ये संध्या तक कहीं ठहर नहीं सकते थे। मा ने भी कहा था—"चले आना।"

बड़े बच्चे का नाम जिसकी उम्र १२-१३ साल की थी, जग्गन था और छोटे बच्चे का जो करीब ५-६ साल का था, सुक्कन। बड़े भाई जग्गन ने गिन कर पैसे और अधेलों को अच्छी तरह गाँठ में बाँध लिया और जाने की तैयारी की। इनके सहयोगी दूकानदारों ने इनकी ओर ध्यान भी नहीं दिया। किसी ने मना भी नहीं किया। वहाँ इन गरीब बच्चों का अपना कौन बैठा था जो दया दिखलाता, उस तड़पती हुई धूप में जाने से रोकता, उस महाकाल के धधकते हुए खप्पर में कूद पड़ने से समझाता? जग्गन ने अपने छोटे भाई के हाथ में एक कचौरी देकर कहा—"जल्दी चलो। मा खोज रही होगी। खाते खाते चलो—अरे, देखते नहीं...दिन चढ़ रहा है।" ललचाई हुई आँखों से अपने हाथ की लाल-लाल फूली हुई कचौरी को देखता हुआ सुक्कन ने सम्मतिसूचक सिर हिला दिया, मानो वह अपने भाई से पाँच कदम आगे चलने को तैयार हो। दोनों सड़क से उतर कर खेतों की मेड़ पर चलने लगे। जग्गन के सिर पर भारी खोन्चा था और सुक्कन अपनी लटपटी धोती को सँभालता कचौरी खाता पीछे पीछे चल रहा था। न सिर पर छाता और न पैरों में जूते—उस पर जेठ का महीना और दोपहर का रंगमंच पर प्रवेश।

दिगन्त तक फैले हुए रेगिस्तान की तरह उजड़े खेत। कहीं हरियाली का नाम नहीं। हवा से उड़ती हुई धूलि का डरावना बवंडर। सिर पर भास्कर तप रहे थे और पैरों के नीचे जल रही थी वह धरित्री जिसे 'वन्दे मातरम्'-गान के कवि ने सुजलां, सुफलां, मलयजशीतलां, शस्यश्यामलां

आदि कह कर अपने हृदय के पूर्ण आवेग से पुकारा है। वही सजला-सुफला उन अनाथ बच्चों के लिए तपते हुए तवे का रूप धारण करके प्रकट हुई।

जग्गन ने दूर-दूर तक नजर दौड़ा कर देखा। न कहीं एक चिड़िया नजर आई और न एक पत्ती या दूब ही। श्वेत मिट्टी वाले खेतों पर दिनकर की प्रखर किरणें चमक रही थीं और हवा के प्रत्येक झोंका के साथ आग की चिनगियों की तरह तपी हुई धूलि उड़-उड़ कर उनके वस्त्रहीन दुर्बल शरीर को झुलसा रही थी। खेतों का अन्त न था और उन्हें अभी काफी दूर जाना था। खेतों के बाद जगदीशपुर की घनी बारी थी, जहाँ 'पनशाला' भी थी और उसके बाद फिर सहदेवनगर का उजाड़ मैदान था। तब कहीं कोशी नदी थी, जिसमें बरसात के बाद एक बूंद जल का दर्शन भी आठवाँ आश्चर्य माना जा सकता है। कोशी नदी के बाद ? उफ़! अभी तो हरिहरपुर की कल्पना भी असंभव है। दोनों बच्चे अपनी पूरी ताकत से जल्दी जल्दी पैर बढ़ाये जा रहे थे। अपने नन्हें-नन्हें कदमों से इन्हें जीवन का दिगन्तव्यापी रेगिस्तान नापना था!

(३)

"भैया, प्यास लगी है।"

सुक्कन ने अपने हाथ की कचौरी समाप्त करके होठों को बड़ी बेकली के साथ चाटते हुए कहा—"भैया, प्यास लगी है।" जग्गन ने इधर-उधर नजर दौड़ाकर देखा। बहुत दूर पर क्षितिज की धुँधली रेखा से सटी हुई कुछ हरियाली-सी नजर आई। अपने बड़े भाई को चुप देख-कर फिर सुक्कन ने रोदन-मिश्रित स्वर में कहा—"भैया, पानी पीऊँगा।" जग्गन ने ऊपर मन से घुड़क कर कहा—"जल्दी-जल्दी चल। पाजी कहीं का। मारूँगा एक तमाचा जो बदमाशी की। देख सामने बाग है। वहीं पानी मिलेगा। जल्दी चल!" भड़कती हुई प्यास को सूखे कलेजे में दबाकर सुक्कन अपने भाई के पीछे पीछे दौड़ा। उसके नन्हें-नन्हें दोनों पैर पक-से गये। गर्मी और प्यास के मारे चलने की ताब नहीं रह गई। मुँह में थूक का नामोनिशान भी न था, जिससे कुछ शान्ति मिलती, कंठ को कुछ तरावट मिलती, हृदय को कुछ जीवन मिलता, फेफड़ों को कुछ आराम मिलता। जग्गन अपने छोटे भाई को धमकाकर पूरी तेजी से ले चला। वह चाहता था कि किसी तरह इस मैदान को वह पार कर जाय। पर ऐसा जान पड़ता था कि जैसे जैसे ये दोनों बच्चे आगे बढ़ते थे, वैसे ही वैसे सामने—दूर पर नजर आनेवाली बारी पीछे की ओर खिसकती जाती हो। दुर्भाग्य का मैदान बड़ा लम्बा होता है। बड़े साहसी का काम है, जो इस अनन्त मैदान को अपने कदमों से नाप डाले। इतना साहस उन दोनों अभागे गरीब बच्चों में न था। विधाता का विधान किसी का मुँह नहीं जोहता, न पक्षपात ही करता है।

धूलि का एक बवंडर उठा। दोनों बच्चे मानो धूलि की आंधी में घिर गये। क्षण भर के लिए दोनों अकचका कर खड़े हो गये। जग्गन ने अपने पीछे से एक पतली-सी कराहती हुई आवाज सुनी—"भैया, पानी...बड़ी प्यास।"

जग्गन का साहस छूट गया। उसने अपने थके हुए और कातर भाई को आगे कर लिया। चुमकारकर जग्गन ने कहा—"चल, चल, सामने बागीचा है। हम वहीं रुक जायँगे, पानी भी मिलेगा और एक कचौरी और दूँगा। वह देख सामने! अब तो हम पहुँच ही गये। आध कोस और है—आध घंटा का रास्ता। जल्दी चल, नहीं तो कचौरी नहीं दूँगा।"

सुक्कन का चेहरा पीला पड़ गया था। वह थरथरा और हाँफ रहा था। खोन्चे को सिर पर रखने के कारण जग्गन का सिर और आधा शरीर एक प्रकार से छाया में था। इन्हें पच्छिम की ओर जाना था। जग्गन ने अपने छोटे भाई को इस बार आगे कर लिया। अपनी छाया में वह उसे ले चला, पर प्यास की ज्वाला संतोष के जल से शान्त हो जाय, यह बात असंभव थी। जग्गन चाहता था कि खोन्चा रखकर वह अपने भाई को गोद में उठा ले और दौड़ता हुआ बागीचे की शीतल छाया में पहुँच जाय। एक मील क्या, अभी उन्हें एक कोस चलना था। मा का भय खोन्चा रखने की अनुमति नहीं देता था। वह यह नहीं तय कर सका कि खोन्चा और अनुज—इन दोनों में कौन ग्राह्य और त्याज्य है। वह दोनों की रक्षा करना चाहता था। कुछ दूर चलने के बाद ठोकर खाकर औंधे मुँह सुक्कन गिरा। जग्गन खोन्चा रखकर भाई को उठाने चला। वह अर्ध-मूर्छित-सा पानी... पानी करने लगा

इधर जग्गन का तालू भी सूख रहा था। तपते हुए तवे की तरह धूप चमक रही थी और चकाचौंध के मारे इधर-उधर देखना असम्भव था। सुक्कन जिस स्थान पर गिरा, वहाँ धुनी हुई रूई की तरह धूलि का ढेर था जिस पर हवा के झकोरों का नर्तन हो रहा था।

बड़ी कठिनाई से अपने छोटे भाई को उठाकर जग्गन ने खोन्चा उठाने का प्रयत्न किया। धूप की कड़ी गर्मी लगने से पिघल कर खोन्चे में से तेल निकलना आरम्भ हो गया था। तेल से भींगा हुआ लकड़ी का भारी खोन्चा जिसका रंग काला पड़ गया था, चिकना हो गया था। इधर जग्गन प्यास से और अपने छोटे से गरीब अनुज की व्याकुलता से घबरा उठा। हाथ से खोन्चा छूटकर गिर पड़ा और बची-बचाई कचौरियाँ और जलेबियाँ धूलि में बिखर गईं। जग्गन चाहता तो यह था कि वह जल्दी जल्दी अपने इस कालपथ को पार कर जाय, पर अब उसे रुकना पड़ा। इधर सुक्कन खड़ा खड़ा काँप रहा था और मुँह खोलकर हाँफ रहा था। जग्गन जल्दी जल्दी कचौरियों को चुनने लगा। गिनी हुई कचौरियाँ थीं। मा से पिटे जाने का भय था। दूर दूर छिटक कर चली जानेवाली कचौरियों को सँभाल कर एकत्र करना साथ ही कपड़े से उन्हें पोंछते भी जाना एक भयानक काम था। सुक्कन ने बेकली के साथ ही बैठते हुए कहा—"भैया पानी... पानी... पानी ला दो... भैया..... ।"

इस बार सुक्कन अचेत-सा हो गया। जग्गन ने अपने भाई के सूखे हुए मुँह को अपनी मैली धोती से पोंछकर चुमकारते हुए कहा—"चलो। बस, सामने तो बागीचा है। लो—एक कचौरी खाते चलो।"

जग्गन ने हाथ पकड़ कर सुक्कन को उठाना चाहा पर उठ न सका बल्कि हाथ छोड़ते ही वहीं पर—तपी जमीन और धूलि पर ही औंधे मुँह लेट गया। अत्यन्त क्षीण स्वर में सुक्कन बोला—"पा...नी...पा...नी......"।

जेठ का दोपहर खेतों में दहाड़ रहा था, धूलि उड़ रहा था, आग बरसा रहा था। सुक्कन खोन्चा रखकर हारा-सा बैठ गया। अपने नन्हें से साथी को खींच कर उसने बैठाया, पर फिर वह लुढ़क कर गिर पड़ा। जग्गन ने देखा कि सुक्कन के होंठ काले पड़ गये हैं, हाथ-पैर ऐंठ गये हैं। सुक्कन की ठुड्ढी पकड़कर उसने उसके पसीने से भरे हुए मुँह को ऊपर उठाया, पर सिर एक ओर लुढ़क गया। जग्गन रो उठा। उसने बड़े प्यार से पुकारा—"सुक्कन, अरे सुक्कन।" एक अत्यन्त क्षीण स्वर सुक्कन के सूखे हुए होठों के भीतर से निकला—"पा...नी"। बस!

जेठ ने धूलि के चादर से दोनों अभागे बच्चों को छिपा लिया।

× × ×

संध्या।

जेठ की संध्या तपस्विनी की तरह अपनी सजावटहीन शोभा के साथ हरिपुर के खेतों के उस पार धीरे धीरे थकी हुई-सी उतरी। शेषनाग के फूत्कार की तरह रह रह कर गरम हवा के हलके हलके झोंके आ जाते थे। चोंच खोले हुए पक्षी वृक्षों पर हक्का-बक्का-से दिखलाई पड़ने लगे। आँखें मलते हुए ग्रामवासी अपनी-अपनी राममड़ैया के दरवाजे से झाँकते हुए नज़र आये। मटमैली धूप ऊँचे ऊँचे वृक्षों की चोटियों पर, शव के चेहरे पर, पड़ने वाले हलके प्रकाश की तरह, चमकने लगी। गाँव की गलियों में दो-चार कुत्ते जीभ निकालकर हाँफते हुए भी दिखलाई पड़े।

गाँव के एक छोर पर छोटे से कच्चे घर में एक दुर्बल रोगिणी स्त्री कराहती हुई अपनी टूटी-सी खाट पर से उतरी। इधर-उधर देखकर उसने धीरे धीरे बड़बड़ाना आरम्भ किया—"अब तक नहीं... आये। कहाँ रह गये... दोनों! उफ कितनी पीड़ा है... शरीर टूट रहा है... मौत दे दो... भगवान्। खूब... पीटूँगी...सुकता...बड़ा... बदमाश...है...पूरा खेलाड़ी...हाँ, कहीं खेल...रहा...होगा। जगना भी...! मर जायँ ऐसे कपूत...मैं मर रही हूँ...वे... खेल...रहे होंगे,...क्या...परवा है।"

कराहती हुई उस रोगिनी ने चूल्हे में आग डालकर हाँड़ी चढ़ाई और भात बनाकर खुद दरवाजे के पास आकर बैठ गई। कुछ देर बैठकर उसने फिर बोलना शुरू किया—"दोनों... भूखे...आवेंगे। सुकना ... तो बड़ा... हो गया...है...पर जगना...उफ हरे...हरे, कितना दर्द.... है शरीर में... हाँ, जगना . . . आते ही भात खोजेगा... । बना... कर... रख दिया है पर अभी...आये... नहीं...कहाँ गये! हे भगवान्... उठा...तो...इस ... संसार...से नारायण!...अब सहा नहीं...जाता!"

संध्या ने रात का रूप धारण किया। गाँव के छप्परों में से धुँआ निकलने लगा। शिवराम पांडेय की चौपाल पर झाँझ ढोलक के साथ रामायण की कथा शुरू हो गई। पेड़ों के इधर-उधर चिमगादड़ उड़ने लगे। धूलि से भरे हुए आकाश में कुछ इनेगिने बड़े बड़े तारे टिम-टिमाने लगे।

रोगिणी स्त्री व्याकुल होकर किसी के भी पैरों की आहट मिलते ही दरवाजे पर आने लगी। उसके बच्चे आज लौटकर अभी तक नहीं आये। ऐसा कभी नहीं होता था। पर इसका जवाब कौन दे? क्या ही अच्छा होता यदि हवा बोल सकती, ये तारे बोल सकते, यह पृथिवी बोल सकती और यदि यह आकाश भी बोल सकता। यदि विधाता ने इन्हें गूँगा बनाया था तो दुर्भाग्य के कंठ में तो वाणी दे देते। यदि ऐसा होता तो लाचार मानव-जाति का कितना हित होता, कितना उपकार होता, कितनी भलाई होती? जो हो, पर विधाता से बहस नहीं की जा सकती—लाचारी है।

१९३७

* * *

मुंशी बख्तावरलाल

हजरत तस्लीम लखनवी

मुंशी बख्तावरलाल उसी जात के एक रतन हैं जिनके यहाँ उर्दू और फारसी लौंडियों की तरह हर वक्त हाथ बाँधे खड़ी रहती हैं। ऐसा मशहूर है, और वह खुद भी दिन में हज़ार बार कहते हैं कि मलिके-जमानियाँ नवाब वाजिद-अलीशाह साहब, खुदा उन्हें जन्नत बख्शे, बिना इनसे पूछे पानी तक नहीं पीते थे। बक़ौल आपके, वह आपको अपने उस्ताद की तरह मानते थे; यानी कि बस हद हो गई कि जहाँपनाह ने जो 'इन्दर-सभा' डिरामा लिखा था, उसकी इस्लाह आप ही से करवाई थी।

मुंशी जी हमारे पड़ोसी हैं। उनका कहना है कि उन्होंने इस खाकसार को बचपन में गोदियों खिलाकर इसकी इज्जत-अफ़ज़ाई की है। बहरहाल, हमें तो साहब कुछ याद-वाद नहीं, लेकिन जब आप फरमाते है तो सही होगा। बस, शक सिर्फ इस बात का है (मुंशी जी साहब की रूह इस आधी रात के वक्त 'इन्दर-सभा' की जिस किसी परी के साथ जश्न मना रही हो, मुझे मुआफी अता फरमाये) कि अम्मी-जान और वालिद बुज़ुर्गवार तो हमेशा यही बतलाया करते थे कि मैंने शहर कलकत्ते में पहली बार सूरज की रोशनी देखी थी। और इतना तो मुझे भी अच्छी तरह याद है कि जब मैं बारह बरस का था, तब वालिद साहब मरहूम हम लोगों के साथ कलकत्ता छोड़ अपने वतन लखननऊ वापस आये थे।

इधर जनाब मुंशी जी साहब का कहना है कि जब अँगरेज लोग बादशाह-सलामत को धोखे से गिरफ्तार कर कलकत्ता ले जाने लगे, उस वक्त बन्दापरवर ने जनाब मुंशी जी साहब को भी अपने साथ ले जाने की इजाजत माँगी। आप ही का कलाम, "मेरी आँखों में आँसू आ गये। अब आपसे क्या अर्ज करूँ अपनी उस वक्त की हालत कि धड़ाधड़ गश पर गश चले आ रहे हैं, और बादशाह-सलामत, खुदा उन्हें जन्नत बख्शे, परमेशुर करें वह जहाँ कहीं भी हों, दूधों नहायें, पूतों फलें, खुद मेरी यह हालत देखकर जार-जार रो रहे थे। अब अँगरेज लोग भी हैरत में कि आखिर यह कौन शख्स है, जिसकी बीमारी से खुद बादशाह-सलामत तक को इतना सख्त सदमा पहुँच रहा है। साहब, राम-राम करके पूरे चार घंटे में मुझे जरी-सा होश आया। जो आँखें खोल के देखता हूँ तो बड़े-बड़े लाट और कलक्टर और डिप्टी-कमिश्नर मेरे आस-पास खड़े हुए हैं। मुझे होश में आया देखकर एक अँगरेज ने कहा कि जहाँपनाह ने खुद हुजूर के सिरहाने खड़े होकर वजीफा पढ़ा था, और इस वक्त आरामगाह में तशरीफ रक्खे हुए ज़ार-ज़ार रो रहे हैं।

'आप यकीन मानें साहब, कि ऐसा गरीब-परवर, दरिया-दिल, और खुश-मिजाज बादशाह तो दुनिया के परदे पर और कोई हुआ ही नहीं। खुदा उन्हें जन्नत बख्शे,

वल्ला, एक ही दम पाया था हुजूर नवाब साहब ने भी कि बस क्या बयान करूँ कि अहा–हा–हा !

"खैर जनाब, जो मुझे यह पता चलता है तो बस कहाँ की बीमारी और कहाँ का गम—भागा हुआ हजरत की आरामगाह की तरफ गया; जाकर तसल्ली दी कि हुजूर, आप यह क्या कर रहे हैं ? एक नाचीज के लिए हुजूर अपने दिल को रंज न पहुँचायें। बादशाह-सलामत एकदम उछल कर मुझे गले से लगाते हुए बोले कि भाई बख्तावर, मैं तुम्हें छोड़कर रह नहीं सकता। मैंने उन्हें दिलासा देते हुए अर्ज किया कि हुजूर, अब इस गुलाम को आजादी बख्शिए। कहाँ तो जहाँपनाह के जरे-साये परवरिश पाता रहा, और अब इन फरंगियों की सल्तनत में जाकर बसूँ ? मेरी जान बख्शी जाय, इस खाकसार ने आज तक कभी हुक्म-उदूली करने की गुस्ताखी नहीं की। मुझे जहाँपनाह इजाजत दें कि मैं यहीं रह कर आलीजाह की तरफ से इन फरंगियों से बदला लूं।......तो हजरत, आप यकीन मानें कि यह खाकसार पेशावर से लेकर मदरास तक घूम आया; और यहाँ तक कि जब मदरास जा रहा था, तो कलकत्ता-स्टेशन रास्ते में पड़ा, लेकिन मैं उतरा नहीं।"

गर्ज कि इन तमाम बातों के कहने का मकसद महज इतना ही है कि मुंशी जी कभी कलकत्ता तशरीफ नहीं ले गये, और बारह बरस की ऐसी उम्र नहीं जिसमें कि किसी को आसानी से गोद में उठाकर खिलाया जा सके। बहर-हाल, बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनको कि बगैर सिर उठाये ही तस्लीम करना होता है।

जनाब मुंशी जी साहब ने, सन् ३० के सत्याग्रह-आन्दोलन के जमाने में एक बार जिक्र छिड़ने पर यह भी फरमाया था कि आप ही की जूतियों के तुफैल से लखनऊ में गदर फैला था। और वह तो कहिए कि महज एक जरी-सी गलती से सब किये-कराये पर पानी फिर गया, वरना इस वक्त अवध में क्या, पूरे हिन्दुस्तान में नवाबी-अमल होता। और साहब, सच तो यह है कि नवाबी के भी क्या कहने ? आप यकीन मानें, हजरत, कि उस वक्त लोग यह भी नहीं जानते थे कि रंजोगम कहते किस चिड़िया को हैं ? बस जनाब, आँखों के सामने ही अंगूरी-शराब खिंचवा रहे हैं, जाम पर जाम उड़ रहे हैं, और अब यह हाल है कि कोई पुर्साहाल नहीं।

गदर के नाकामयाब होने के सबब आप यह बतलाते हैं कि ज्यों ही आप घोड़े पर सवार होकर मैदाने-जंग की तरफ बढ़े तो शहर की तमाम मशहूर और निहायत हसीन तवायफें आपके पीछे पड़ गईं। रोकर कहा कि आपके साथ हम भी चलेंगी क्योंकि आपके बाद लखनऊ में कद्र करने वाला और कौन रह जायगा। और माशाअल्लाह, उस वक्त आप वह कड़ियल जवान-पट्ठे थे कि आप ही के लफ्जों में कि जिधर से मैं निकल जाता था, हुस्न के बाजार में आहें भरी जाने लगती थीं। खैर साहब अब यह समझा रहे हैं और वह मानती नहीं हैं कहती हैं हम लोग साथ ही जायँगी। किसी तरह दम-दिलासा देकर जो आपने ऐंड़ लगाई तो बस जाकर हरौनी ही में दम लिया जहाँ कि गदर मचा हुआ था। अपने सिपह-सालार को देखकर सिपाहियों का दिल दूना हो गया। अँगरेजी फौजें भागने ही वाली थीं कि एकाएक तकदीर का तख्ता ही पलट गया। भई, कुछ भी हो मगर हम तो कहेंगे वाह रे इश्क ! मुन्शी जी साहब के वियोग में सबकी-सब तवायफें जोगन बनी हुई आखिरकार मैदानेजंग में भी पहुँच ही गईं। और रो-रोकर मुन्शी जी को लगीं घोड़े पर से घसीटने। अब मुन्शी जी हैं कि दनादन फैरों पर फैरें कर रहे हैं और उनकी एक-एक गोली से सौ-सौ अँगरेज वफात पा रहे हैं। एकाएक एक अँगरेजी-सार्जेन्ट की गोली दन-दनाती हुई इनकी तरफ आई और यह तय था कि वह इनकी खोपड़ी के ठीक बीचों-बीच एक आर-पार का सूराख कर देती कि ऐन मौके पर मुन्शी जी के इश्क में अधमरी हो जाने वाली इन हसीनों के बदन में खुदा जाने कहाँ से इतनी ताकत फट पड़ी कि जो सबने मिलकर इनका हाथ पकड़ कर घसीटा तो बस धम से घोड़े के नीचे ही दिखाई पड़े। मुंशी जी फरमाते हैं कि उस अँगरेज सार्जेन्ट ने खास इन्हीं को खत्म करने के लिए ऐसी जबरदस्त गोली छोड़ी थी कि आगे जाकर उसने एक पीपल के पेड़ को भून कर रख दिया। मगर इनके गिरने का असर इनकी फौज पर बहुत बुरा पड़ा। उन लोगों के हौसले पस्त हो गये; और उन्होंने यह समझा कि जनाब मुंशी जी साहब उस अँगरेज सार्जेन्ट की गोली खाकर इस जहान-फानी से कूच कर गये। फिर क्या था इनकी फौज में इस तरह भगदड़ पड़ी कि बस क्या अर्ज किया जाय।

सिपाही लोग उस अँगरेज सार्जेन्ट को कोसते और जनाब मुंशी जी साहब मरहूम की याद में रोते हुए वापस लौटने लगे। और अब यह एक सिपाही को पकड़-पकड़ कर समझा रहे हैं कि भाई मैं मरा नहीं जिन्दा हूँ मगर इन्हें यकीन ही नहीं आता।

(२)

रोजाना अखबार में खबरें छप रही हैं कि महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू वगैरह-वगैरह गिरफ्तार हो रहे हैं। जगह-ब-जगह हड़तालें हो रही हैं, धरने दिये जा रहे हैं। लाठियाँ और बन्दूकें चल रही हैं। जनाब मुंशी जी साहब एक दिन मुहल्ले में रहने वाले काँग्रेसी वालंटियरों से बोले—'यह क्या तुम लोग गलत रास्ते पर जा रहे हो? वल्ला, अगर कहीं मैं महात्मा गाँधी की जगह पर होता तो चुटकी बजाते-बजाते यों सौराज दिलाता—यों! नवाब वाजिदअलीशाह साहब के जमाने में भी लखनऊ वालों ने यह चाहा कि उन्हें आम सड़कों पर शराब पीने का सौराज मिल जाय। खैर साहब वह लोग आये हमारे पास। हमने कहा कि यह कौन बड़ी बात है, अभी चलो। बस पहुँच गये नवाब साहब के दरबार में। बादशाह सलामत ने जो इतने हुजूम के साथ आते देखा तो खड़े हो गये, और मुसकरा कर मेरा इस्तकबाल करते हुए फरमाया कहो भाई बख्तावर यह सब क्या माजरा है? मैंने अर्ज किया हुजूर, यह लोग सौराज चाहते हैं। बादशाह सलामत के माथे पर शिकन पड़ गये, तेवर बदल कर फरमाते हैं किस बात का सौराज जी? इस खाकसार ने अर्ज किया कि हुजूर सौराज चाहते हैं और क्या। बादशाह सलामत ने फरमाया कि सौराज लेकर आखिर यह लोग क्या करेंगे? मैंने अर्ज किया हुजूर को दोआयें देते हुए यह लोग शराब पी-पी कर सड़कों पर जश्न मनायेंगे। मेरी इस बात पर हजरत कुछ इस तरह खुश हुए कि बस मुसकरा कर सौराज दे दिया। और साहब मैं क्या मेरे वालिद-बुजुर्गवार और बाबाजान मरहूम ने भी वक्तन-फ-वक्तन लोगों को इसी तरह सौराज दिलाया है। तो साहब यह हमारा ही काम है कि एक घड़ी के अन्दर जिसको चाहें सौराज दिला दें। अब गांधी जी क्या खाकर सौराज लेंगे? कहीं झण्डा लेकर नमक बनाने से सौराज भी मिलता है? हमको कहिए, देखिए यों सौराज दिला दूं।'

मुहल्ले वालों ने भी कहा—'साहब इससे अच्छी क्या बात है।' बस जनाब मुंशी जी साहब झट से अन्दर जाकर अपनी धराऊ चपकन और टोपी पहन कर बाहर निकले।'

मुहल्ले वालों ने नारा लगाया—'इन्कलाब-जिन्दाबाद', 'भारत माता की जै', 'मुंशी बख्तावरलाल की जै''। मुंशी बख्तावरलाल ने निहायत खुश होकर अपने शाने हिला दिये।

एक ने पूछा, 'मीटिंग कहाँ कीजिएगा?'

आप अकड़ गये, फरमाया—'मीटिंग के क्या माने जी? हम तो लाट साहब से मिलने जा रहे हैं।' और आपने निहायत जोश के साथ उनकी तरफ देखकर कहा 'इन्कलाब-जिन्दाबाद!'

पूछने वाले साहब खुफिया पुलिस के एक अफसर थे। इधर इन्होंने नारा लगाया, उधर उन्होंने इनका हाथ पकड़ा कि आइए, मेहमानखाने में तशरीफ ले चलिए।

मुंशी जी साहब अकड़ गये, कहा—'तुम कौन हो जी?' फिर पीछे की तरफ मुड़कर वालंटियर से कहा—'इन्हें बता दो कि हम कौन हैं?'

पुलिस के इन अफसर साहब ने मुसकरा कर इनका हाथ झँझोरते हुए फरमाया—'अजी इधर आइए साहब। हमें मालूम है कि आप कौन हैं। वह देखिए हुजूर लाट साहब ने आपकी खातिर के लिए एक मोटर भी भेज दी है।'

लारी पर बैठते वक्त भी जनाब मुंशी जी को इस बात का गुमान न था कि वह हवालात लिये जा रहे हैं। दूसरे वालंटियरों ने भी आपको यही यकीन दिया कि लाट साहब ने आपकी बड़ी इज्जत की है।

मोटर लॉरी जब कोतवाली में पहुँची और सिपाही इन्हें हवालात की तरफ ले जाने लगे तब तो आप बहुत घबराये, लगे रो-रो कर दारोगा जी के पैर पकड़ने। रो के फरमाते हैं 'ऐ हुजूर मैं तो सरकार का पुराना खैरख्वाह हूँ।'

दारोगा साहब मुसकरा कर बोले—'अजी वाह ऐसी बात करते हैं आप? आप तो नवाब वाजिदअलीशाह साहब के खास दाहिने हाथ थे, आपके जरा तेवर बदल देने से ही गदर मच गया था और साहब आपने तो कई बार सौराज दिलाया है......।'

मुंशी जी ज़ार ज़ार रोने लगे, कहा—'हुज़ूर बुढ़ापा बिगड़ जायगा। यह सारी इज्जत खाक में मिल जायगी।'

'अजी इज्जत की इसमें क्या बात है? आप तो जनाब वाजिदशाह साहब......।'

'वल्ला, इल्म कसम हुज़ूर, किसी दुश्मन ने मेरे खिलाफ हुज़ूर के मेहरबान दिल में कुछ बदगुमानी पैदा करने की कोशिश की है। अब आप ही खयाल फरमाइए बन्दा-परवर कि कहाँ मैं और कहाँ नवाब वाजिदअलीशाह साहब का जमाना? खुदा उन्हें जन्नत......नहीं नहीं हुज़ूर भला आप ही ख्याल फरमाइए कि मैं क्या मेरे बाप-दादे भी उस वक्त पैदा भी नहीं हुए होंगे हुज़ूर।'

'अच्छा? तो गोया आप अभी तक कमसिन ही हैं? खैर, सिपाहियो ले जाओ इन्हें। यह लाट साहब से मिलने जा रहे थे न?'

मुंशी बख्तावरलाल ने ज़ार ज़ार रोते हुए कहा—'ऐ हुज़ूर अब की बार माफ़ कर दीजिए। भला मेरी इतनी जुर्रत कि मैं मलिके जमानियाँ हुज़ूर लाट साहब, खुदा उन्हें ज...नहीं नहीं हुज़ूर, परमेशुर करे वह दूधों नहायँ पूतों फलें—अब उनसे मिलने की मेरी ताब कहाँ है हुज़ूर? आप सलामत रहें, मुझे अपने बच्चों के सदके ही से छोड़ दीजिए। इस वक्त तो आप ही हमारे लिए लाट साहब हैं, सरकार।'

मुआफी माँग कर छूट आने के बाद ही जनाब मुंशी जी साहब अपने घर लौट आये। मैंने उनसे दरियाफ्त किया—'कहिए साहब कुछ कामयाबी हासिल हुई?'

मुंशी जी ने अकड़ कर फरमाया—'वल्ला आप भी कैसी बातें करते हैं हजरत?' और फिर मूँछों पर ताव देते हुए बोले—'भला जिस काम में मुंशी बख्तावरलाल हाथ डालें और वह पूरा न हो? लाट साहब ने फौरन ही हुक्म दिया कि कागजात तैयार करो। बस अब कागज तैयार होने भर की देर है, कि सौराज हो गया। अब आप वह ख्याल फरमायें कि नवाब वाजिदअलीशाह साहब, 'नहीं-नहीं वह सब कुछ नहीं, आप उन्हें कुछ ख्याल न कीजिएगा हजरत! अच्छा स वक्त मुझे जरी एक काम है।'

बात पूरी होते-होते मुंशी बख्तावरलाल ने अपने मकान के किवाड़े खट से बन्द कर भीतर से कुंडी लगा ली।

१६३६

❀ ❀ ❀

ईद और होली

श्रीयुत सेठ गोविन्ददास

पात्र—राम—एक बच्चा (उम्र ४ वर्ष)
हमीदा—एक बच्ची (उम्र ४ वर्ष)
रतना—राम की मा (उम्र ४० वर्ष)
खुदाबख्श—हमीदा का बाप (उम्र ४५ वर्ष)
स्थान—एक नगर।

पहला दृश्य

स्थान—एक गली

समय—सन्ध्या

(सँकरी-सी गली का एक हिस्सा दिखाई देता है, जिसके दोनों तरफ एकमंजिले और दोमंजिले छोटे छोटे मकानों के बाहरी भाग दृष्टिगोचर होते हैं। गली के एक तरफ सबसे नजदीक खुदाबख्श के एकमंजिले मकान के सामने का कुछ हिस्सा दीख पड़ता है। मकान में जाने-आने का कुछ हिस्सा दीख पड़ता है। मकान में जाने-आने का एक छोटा-सा दरवाजा है। गली के दूसरी तरफ सबसे नजदीक रतना के दोमंजिले मकान के सामने का कुछ भाग दिखाई देता है। इस मकान में जाने-आने का एक बड़ा-सा दरवाजा है। खुदाबख्श और रतना के मकान एक-दूसरे के ठीक सामने हैं और बीच में गली है। हमीदा खुदाबख्श के मकान के भीतर से निकलकर गली में आती है। हमीदा करीब चार वर्ष की छोटी-सी बालिका है। रंग गेहुँआ है और देखने में साधारणतया सुन्दर है।

छोटे छोटे फैले हुए बाल हैं। एक गुलाबी रंग का रेशमी पाजामा और हरे रंग का रेशमी कुर्ता पहने है। कानों में चाँदी की बालियाँ हैं। हमीदा के हाथों में पत्ते का दोना है और उसमें मैदे की बनी हुई सिवइयाँ हैं।)

हमीदा—(रतना के मकान के नज़दीक जाकर जोर से) आम! ओ आम!

(रतना के मकान से राम निकलता है। उसकी उम्र भी हमीदा के बराबर ही है, पर कद में वह हमीदा से कुछ ऊँचा और शरीर में भी कुछ मोटा है। रंग गेहुँआ है और देखने में बुरा नहीं है। एक सफेद जाँघिया पहने है और उसके ऊपर वैसा ही कुरता।)

राम—(हमीदा को देखकर) ओ, हम्मू।

हमीदा—हाँ, आम। आद ईद, ईद। (सिवइयाँ दिखाते हुए) जे।

राम—जे त्या हैं, हम्मू?

हमीदा—ईद ती छिमइयाँ।

राम—ईद ती छिमइयाँ।

हमीदा—हाँ, आम, ईद ती छिमइयाँ। मीथी, मीथी।

(दोनों रतना के मकान के नजदीक गली के एक किनारे पर बैठ जाते हैं।)

हमीदा—हम-तुम दोनों घाँय।

राम—दोनों घाँय।

हमीदा—(सिवइयाँ राम के मुँह की तरफ ले जाते हुए) हाँ, आम, दोनों घाँय।

(हमीदा राम को अपने हाथ से सिवइयाँ खिलाती है, फिर खुद खाती है। रतना अपने मकान के बाहर निकलती है। वह करीब ४० साल की गेहुँआ रंग की साधारण उँचाई और शरीर की स्त्री है। वेश-भूषा से विधवा जान पड़ती है।)

रतना—(जोर से) राम! ओ राम!

राम—(उसी तरह बैठे हुए सिवइयाँ खाते खाते) हाँ, मा।

रतना—(राम के नजदीक आते और राम तथा हमीदा को क्रोध से देखते हुए) फिर उस मलेच्छा के साथ खा रहा है। भिष्ट कहीं का।

राम—अले, मा, छिमइयाँ हैं। छिमइयाँ मीथी, मीथी। ईद ती हैं, ईद ती, मा।

(रतना नजदीक पहुँचकर राम का हाथ पकड़ती है, हमीदा बैठी बैठी खाती रहती है। खुदाबख्श अपने मकान के बाहर निकलता है। उसकी उम्र करीब ४५ वर्ष की है। रंग साँवला है। वह ऊँचा-पूरा, मोटा-ताजा व्यक्ति है। ईद के कारण धुला हुआ सफेद पाजामा और चिकन का कुरता तथा उस पर हरे रंग की रेशमी सदरी पहने है। सिर पर हरे रंग का ही बड़ा-सा रेशमी साफा बाँधे है।)

रतना—(खुदाबख्श को न देख हमीदा की तरफ क्रोध से घूरते हुए गरजकर) हरामजादी, सौ बार कहा मेरे लड़के के साथ न खेला कर! अपना छुआ, अपना जूठा खिलाती है, मलेच्छा कहीं की।

(हमीदा पर रतना की घुड़की का कोई असर नहीं पड़ता और उसका खाना जारी रहता है)

खुदाबख्श—(उसी तरफ नजदीक आते हुए) बस, बहुत हुआ। बहुत हुआ। खबरदार। अगर जबान चूकी तो!

रतना—(खुदाबख्श की तरफ देखते हुए) बाम्हन का धरम भिष्ट कराता है और कहता है, खबरदार, जबान चूकी तो। उलटा चोर कोतवाल को डाँटे।

खुदाबख्श—(हमीदा को गोद में उठाते हुए) मैं औरत के मुँह नहीं लगना चाहता। काफिर कहीं की।

रतना—औरत भी तेरे मुँह नहीं लगना चाहती। (राम को गोद में उठाते हुए) अपनी शाहजादी को अपने बस में रख।

खुदाबख्श—क्यों तेरा लड़का भरष्ट होता है?

रतना—मेरा लड़का तेरे घर नहीं गया था। तेरी लड़की आई थी।

खुदाबख्श—(हमीदा को गोद में उठाये अपने घर की तरफ जाते हुए) अब कभी पेशाब करने भी न आयेगी।

रतना—(राम को गोद में उठाये अपने घर के अन्दर जाते हुए) वही अच्छा है, धरम तो बचा रहेगा।

खुदाबख्श—(घर में जाते जाते घृणा से) काफिर और मजहब।

रतना—(भीतर से) मलेच्छ ! मलेच्छ ।

(दोनों अपने अपने बच्चों के साथ अपने अपने घरों के अन्दर चले जाते हैं । नेपथ्य में "मारो मारो" कोलाहल होता है । खुदाबख्श बाहर आता है । गली में कुछ मुसलमान लाठियाँ लिये दौड़ते हुए आते हैं ।)

खुदाबख्श—क्या हुआ, बिरादरान ?

एक आगन्तुक—झगड़ा ।

खुदाबख्श—हिन्दू-मुसलमानों में ?

दूसरा आगन्तुक—हाँ, हाँ । और किसमें होगा ?

(आगन्तुक दौड़ते हुए दूसरी तरफ चले जाते हैं । खुदाबख्श जल्दी से घर के अन्दर जाता है और एक लाठी लेकर आता है तथा उसी तरफ चला जाता है जिस तरफ दूसरे मुसलमान गये थे । नेपथ्य में कोलाहल बढ़ता है । हमीदा अपने घर से निकलती है और रतना के मकान के भीतर जाती है । नेपथ्य में कोलाहल होता रहता है । खुदाबख्श एक हाथ में तेल से भीगे हुए चिथड़े और दूसरे हाथ में एक मशाल लिये हुए आता है । रतना के मकान के इधर-उधर वे चिथड़े रख मकान में आग लगाने का प्रयत्न करता है ।)

खुदाबख्श—(क्रोध से दाँत पीसते हुए) मलेच्छ ! मलेच्छ ! हम मलेच्छ ! ले, गालियों का नतीजा ले : तेरा राम, तेरा मकान, तेरा सब कुछ खाक में मिला दूँ तब तो मेरा नाम खुदाबख्श । जा, दोजख में जा, मय खान्दान और दौलत के जा, काफिर कहीं की ।

(नेपथ्य का कोलाहल और बढ़ता है ।)

यवनिका-पतन ।

दूसरा दृश्य

स्थान—रतना के मकान की छत ।

समय—रात्रि ।

(लम्बी छत है । पीछे की तरफ मकान की दीवार है और सामने की तरफ ईंट-चूने की रेलिंग । रेलिंग के नीचे भी दीवार है । दाहने और बायें तरफ से आग की लपटें और धुआँ उठ रहा है । बीच बीच में दाहनी और बाईं तरफ से आग के कुछ कण छत पर आते हैं । छत पर राम और हमीदा खड़े हुए बात कर रहे हैं । नेपथ्य में बीच बीच में कोलाहल सुनाई देता है ।)

हमीदा—ईद ते बादे बदते हैं, आम ।

राम—(आग की लपटों की ओर इशारा कर) औल ईद ते हाथ होली बी दल रही है हम्मू ।

हमीदा—हाँ, और होली ता दाना बी हो लहा है, आम ।

राम—ईद ते बादे बद लहे हैं, होली ता दाना हो लहा है ।

हमीदा—मैंने तो तुधे ईद ती छिमइयाँ थिलाई थीं । अ तू मुधे होली ती मिथाई नई थिलायदा ?

राम—होली दल दाने पर मेरे घल में मिथाई बनेदी, हम्मू ।

(आग की लपटें धीरे धीरे नजदीक आने लगती हैं ।)

राम—अले होली तो पाछ पाछ आती जाती है ।

हमीदा—कैछी अच्छी, लाल, लाल पीली पीली ।

(आग की चिनगारियाँ और नजदीक आने लगती हैं ।)

हमीदा—(चिनगारियों के पकड़ने का प्रयत्न करते हुए) जुदनू, आम, जुदनू ।

राम—नहीं, छोना, हम्मू, छोना ।

(नेपथ्य में जोर से "हम्मू ! हम्मू !" शब्द होता है ।)

हमीदा—अब्बा पुताल लहे हैं, आम, अब्बा ।

(नेपथ्य में जोर से "राम ! राम !" शब्द होता है ।)

राम—मा बुला रही है, हम्मू, मा ।

(नेपथ्य में फिर जोर से "हम्मू ! हम्मू !" शब्द होता है ।)

हमीदा—(जोर से) हाँ, अब्बा !

नेपथ्य से—अरी कहाँ है, हम्मू, कहाँ ?

हमीदा—(मुस्कराकर राम से) आम, अब्बा मुधे धूंध रहे हैं ।

नेपथ्य से—(जोर से) राम ! राम !

राम—(जोर से) हाँ, मा ।

नेपथ्य से—(जोर से) अरे कहाँ है, राम, कहाँ ?

राम—(मुस्कराकर हमीदा से) हम्मू, मा मुधे धूंध रही हैं ।

नेपथ्य से—(जोर से घबराहट के स्वर से) हम्मू ! हम्म ! कहाँ है, बोल तो।

हमीदा—(ताली बजाकर नाचते हुए जोर से) श्राम ती छत पल ! अब्बा, श्राम ती छत पल।

नेपथ्य से—राम ! राम ! कहाँ है ? छत पर है ?

राम—(हमीदा के साथ ताली बजाकर नाचते हुए) हाँ, मा, छत पल ही तो हूँ।

नेपथ्य से—या खुदा।

नेपथ्य से—हे भगवान् !

(राम और हमीदा उसी तरह ताली बजाकर नाचते रहते हैं। आग की लपटें और नजदीक आती हैं। सामने की दीवार पर दीवार की कारनिस पकड़ कर कठिनाई से खुदाबख्श चढ़ता हुआ दीख पड़ता है। धीरे धीरे खुदाबख्श छत पर पहुँचता है।)

हमीदा—(खुदाबख्श को देखकर हर्ष से चिल्ला कर उसकी तरफ आते हुए) श्रो ! अब्बा ! अब्बा !

खुदाबख्श—(क्रोध से) कम्बख्त ! तू यहाँ क्यों आई ?

हमीदा—(मुस्कराती हुई) थेलने तो, अब्बा, श्राम ते छात थेलने तो।

खुदाबख्श—(अपने साफे को उतार रेलिंग से बाँधते हुए घृणा से) मरने को, बेशऊर।

(खुदाबख्श साफे को रेलिंग से बाँध हमीदा को गोद में उठाता है।)

हमीदा—श्रौल श्राम तो इछती अम्मा ले दायदी।

राम—मैं अपने पैलों थे छीदी छे उतलते आता हूँ।

(राम छत की दाहनी तरफ जाने लगता है, जिधर से आग की लपटें आ रही हैं।)

खुदाबख्श—हाँ, जा, अपने पैरों से सीढ़ी से उतरकर आ जा।

(राम उसी तरफ बढ़ता है।)

खुदाबख्श—(उसी तरफ देखते हुए जोर से) ठहर ! राम ! ठहर।

(राम, जो आग की लपटों के बहुत ही नजदीक पहुँच गया है, रुक जाता है। खुदाबख्श दौड़कर उस तरफ जाता है और उसे दूसरी गोद में उठा रेलिंग में बँधे हुए अपने साफे के नजदीक आकर हमीदा और राम को अपनी दोनों भुजाओं से अपने दोनों तरफ के पसवाड़ों में दाब हाथों से साफे को पकड़ नीचे उतरने का प्रयत्न करता है। दोनों तरफ से आग की लपटें खुदाबख्श के नजदीक पहुँच जाती हैं।)

यवनिका-पतन।

तीसरा दृश्य

स्थान—गली

समय—प्रातःकाल

(दृश्य वैसा ही है जैसा पहले दृश्य में था। अन्तर इतना ही है कि रतना के मकान का बहुत-सा हिस्सा जल गया है। आग अब बुझ गई है। रतना के मकान के नजदीक ही गली के एक किनारे पर राम और हमीदा बैठे हुए हैं। दोनों के बीच में मिठाई का एक दोना रक्खा है और दोनों उस दोने से मिठाई खा रहे हैं। खुदाबख्श और रतना का प्रवेश।)

खुदाबख्श—(दोनों बच्चों को मिठाई खाते देख मुस्कराकर रतना से) बहन, राम फिर भरष्ट हो रहा है।

रतना—(मुस्कराती हुई) नहीं, भाई, सच्चा धरम सीख रहा है।

खुदाबख्श—शर्त यही है कि बड़े होने पर भी इसी मजहब को माने।

(दोनों कुछ देर चुप रहकर एकटक बच्चों की तरफ देखते हैं। बच्चों की पीठ उनकी तरफ रहने के कारण बच्चे उन्हें नहीं देख पाते। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।)

रतना—भाई, तुमने राम की जान बचाकर जो जस मुझ पर किया है उसे मैं......

खुदाबख्श—(बीच में ही) मैंने ? नहीं, बहन, मैंने तो राम की जान लेने के लिए ऐसी कोई बात नहीं जो उठा रक्खी हो। उस परवरदिगार ने उसकी जान बचाई है। (रतना की तरफ देखते हुए) बहन, जब मैं छत पर उसे छोड़ और हमीदा को लेकर आने का इरादा कर रहा था, बल्कि राम को आग से खाक होते हुए जीने

से उतरकर आने की सलाह देकर हमीदा को ले उतरने का इरादा कर रहा था उस वक्त... उस वक्त...बहन... (चुप हो जाता है।)

रतना—(खुदाबख्श की तरफ देखते हुए) हाँ, उस वखत भाई ?

खुदाबख्श—उस वक़्त...उस वक़्त... मैं ऐसा कर ही न सका। जैसे किसी ने मुझे ऐसा न करने के लिए मजबूर कर दिया।... बहन... बहन... यह खुदा का पैगाम था, खुदा का पैगाम।

(खुदाबख्श चुप हो जाता है। रतना उसकी तरफ देखती रहती है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।)

खुदाबख्श—(कुछ ठहर कर) खुदा ने राम को मेरे हाथ से बचवाकर तुम्हारे मकान जलाने के मेरे गुनाह को माफ़ कर दिया।

रतना—मलेच्छ ने काफिर का मकान जलाया था। भाई खुदाबख्श ने बहन रतना का नहीं।

खुदाबख्श—इन बच्चों ने, बहन, इन बच्चों ने हमें म्लेच्छ और काफ़िर से भाई और बहन बना दिया।

रतना—बच्चे कदाचित् मैली आत्माओं को पवित्र करने की भगवान् की देन हैं।

(राम और हमीदा जो अब मिठाई खा चुके हैं, उठते हैं और खुदाबख्श और रतना की तरफ़ घूमते हैं।)

राम—(रतना को देखकर उसी तरफ दौड़ते हुए) मा ! मा !

हमीदा—(खुदाबख़्श को देखकर उसी ओर दौड़ते हुए) अब्बा ! अब्बा !

(राम को खुदाबख्श और हमीदा को रतना गोद में उठाते हैं।)

रतना—क्यों बेटा, हम्मू को मिठाई खिलाई ?

राम—हाँ, मा, इछने मुधे ईद ती छिमइयाँ थिलाई थीं, आद मैंने इछे होली ती मिथाई थिलाई है।

(खुदाबख्श और रतना हँस पड़ते हैं।)

यवनिका-पतन

१९४०

* * *

कायर

श्रीमती विपुलादेवी

(१)

ज़रा-सा खटका होते ही मानसिंह का हाथ अपनी बगल में पड़ी हुई बन्दूक पर जा पड़ा। वह फुर्ती से उठकर बैठ गया और अन्धकाराच्छन्न खाई में आँखें गड़ा-गड़ाकर अंधकार की काली चादर के उस पार देखने की चेष्टा करने लगा।

उसने स्पष्ट देखा कि खाई की दीवार के पास उसके बाप-दादों के जमाने की पुरानी बन्दूक के पीछे खड़ी एक छाया-मूर्ति उसकी ओर क्रुद्ध दृष्टि से देखते हुए नथुने फुलाकर तीखे स्वर में कह रही है—"कायर!"

पता नहीं क्यों मानसिंह उसे देखकर काँप उठा ! उसने कम्पित स्वर में पूछा—"कायर कौन है ?"

"जिसने अपने बाप-दादों की मर्यादा पर पानी फेरा है !" गर्जकर उस छाया ने कहा।

मानसिंह सात समुद्र पार स्वदेश के किसी छोटे-से कोने में स्थित अपने नन्हें से घर के भीतर दीवार पर टँगी उस प्राचीन बन्दूक के इतिहास से परिचित था। उसके प्रपितामह के प्रपितामह जोरावरसिंह को वह बन्दूक एक युद्ध में प्राप्त हुई थी, जिसे उन्होंने गुरु गोविन्दसिंह के आज्ञानुसार आजन्म अपने पास रक्खा और जिसके द्वारा एक सौ चालीस शत्रुओं को उन्होंने मौत के घाट उतारा था। तत्पश्चात् उनके वीर पुत्र ने भी पिता का अनुसरण करके चालीस शत्रुओं के रक्त से गुरु गोविन्दसिंह के प्रसाद-

स्वरूप उस बन्दूक को नहलाया था। खुद उनके प्रपितामह ने पंजाब-केसरी रणजीतसिंह की सेवा करते समय अस्सी से अधिक शत्रुओं के सिरों का निशाना लगाया और अफ-गानिस्तान के आक्रमण में इक्कीस शत्रुओं को हताहत करके स्वयं वीर-गति प्राप्त की थी। उनकी अन्तिम इच्छा का सम्मान करते हुए, सेनानायक ने उस बन्दूक को फिर उनके वंशजों के हाथ तक पहुँचा दी।

लेकिन मानसिंह के पितामह अँगरेजी पलटन में थे। वहाँ नई बन्दूकों के सामने उस प्राचीन मोर्चा लगी बन्दूक को कौन पूछता? तब से कोई कार्य न पड़ने के कारण वह बन्दूक लगभग ७५ वर्ष से दीवार पर टँगी थी और गुरु गोविन्दसिंह का प्रसाद समझकर बड़े आदर से वह पूजी जाती थी।

वही सर्व-वंदिता बन्दूक आज इस दूरवर्ती देश में मानसिंह का पीछा कर रही थी, और अपने मुँह से आग उगल-उगलकर, घोर घृणापूर्वक मानसिंह का तिरस्कार कर—सारी दुनिया को गुंजाकर कहती थी—"मानसिंह कायर है! उफ कायर है!"

और उस बन्दूक के पीछे किसकी छाया दिखती है? जोरावरसिंह की? निश्चय ही यह उन्हीं की है। उनके सिवा और किसकी हो सकती है? तब क्या इस बन्दूक के मोह ने अभी तक उनका पीछा नहीं छोड़ा?

"कायर!" आसन्न मृत्युरूप विषले सर्प के समान फुफकारकर उस छाया ने कहा और मानसिंह की ओर आग्नेय नेत्रों से घूरते हुए कहने लगी—"मानसिंह तूने गुरु के नाम पर बट्टा लगा दिया। तेरे ही कारण आज तेरे पूर्वजों का माथा नीचे झुका!"

पसीने-पसीने होकर मानसिंह ने अपना माथा पकड़-कर साहसपूर्वक कहा—"मेरे कारण! परन्तु मैंने तो कभी कोई बुरा कार्य नहीं किया। पढ़ने में सबसे आगे, खेल-कूद में प्रथम रहा और उसके साथ सदैव अच्छा व्यव-हार किया!"

मानसिंह के इस मूर्खतापूर्ण उत्तर से छाया-मूर्ति खिलखिलाकर कर हँस पड़ी। उसने कहा—"इस नये जमाने के लोग पढ़ने में सबसे आगे रहने और खेल-कूद में प्रथम आने पर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, अतएव इस धारणा के लिए अधिक दोषी नहीं ठहराया जा सकता। परन्तु मानसिंह भला यह तो बतला कि जब कर्नल हंटले ने तेरा अपमान किया था? क्या तेरे शरीर में शक्ति नहीं थी? क्या सोचकर तूने उस अपमान को सह लिया—वह अपमान जो न केवल तेरा था, बरन तेरे साथ तेरी उस वीरप्रसविनी जननी जन्मभूमि का भी था जो हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक फैली हुई है?"

मानसिंह ने निर्भीक भाव से कहा—"परन्तु चाहे जो हो, मैंने कायरता से दबकर कर्नल हंटले के द्वारा किये गये अपमान को कदापि नहीं सहा! मैंने वीरतापूर्वक उसे क्षमा कर दिया!"

"मूर्ख!" उच्च स्वर से छाया-मूर्ति ने कहा—"तुझे नहीं मालूम कि जिनकी आत्मा में शक्ति नहीं होती, जो आत्माभिमान से सर्वथा शून्य होते हैं, जो शरीर में बल रहते हुए भी हिचककर पीछे हट जाते हैं, वही इस प्रकार अपने आपको धोखा दिया करते हैं। तूने सोचा कि वह कर्नल है और तू एक साधारण सैनिक! बस यही सोचकर तूने अपमान सह लिया। तेरे पूर्वज कभी अपमान न सहते, अपमान का बदला तुरन्त लेते।

गिरे स्वर में मानसिंह ने कहा—"नहीं नहीं, यह बात नहीं है।"

"तो फिर और कौन बात थी?" क्रोध से काँपते हुए छाया ने बन्दूक पर झुककर कहा—"ओह मानसिंह! बहुत बुरा किया तूने अपमान सहकर! कायर! तेरे पूर्वज वीर थे। तू अपने वंश को कलंकित करने के लिए क्यों उत्पन्न हुआ और यदि हुआ था तो जन्मते ही मर क्यों न गया?"

उस घोर अन्धकार के बीच में वह छाया-मूर्ति बन्दूक को दोनों हाथों से उठाकर मानसिंह को उसी के पूर्वजों की बन्दूक से मारने के लिए प्रस्तुत हुई। मानसिंह ने अपनी आँखें बन्द कर लीं, उसकी सारी देह पसीने से लथ-पथ हो गई, उसकी देह का एक-एक बूँद रक्त जम-सा गया, उसकी नसों में मानो तीव्र गति से बर्फीली हवा बहने लगी। मानसिंह को लगा कि वह छाया भरपूर वेग से उसके सिर पर आघात करना ही चाहती है।



उमर खैयाम

(चित्रकार – एम० ए० रहमान चगताई) [१६२८



कृष्णजन्म (पथ पर)
(सारदाचरण उकील)

(२)

"मानसिंह ! भाई मानसिंह !" किसी ने मानसिंह के कंधों को पकड़कर हिला दिया।

चौंककर मानसिंह ने आँखें खोल दीं। अपने साथी को सामने देखकर मानसिंह के मन में एक साथ बहुत-सी बातें घूम गईं। यह फ्रांस का रणक्षेत्र; यहाँ तो शत्रुओं के द्वारा फेंके गये गोलों के अतिरिक्त और आ ही क्या सकता है? तब क्या मानसिंह ने जिस छाया-मूर्ति से बातें कीं वह स्वयं उसी के मन की कल्पना-मात्र थी। अपने काल्पनिक भय पर मन ही मन लज्जित और कुंठित होकर शान्त भाव से मानसिंह उठ बैठा। उसने पूछा—"गदाधरसिंह क्या है?"

"तैयार ! शीघ्र ! शत्रु आ रहे हैं!" साथी ने कहा और उछलकर लुइसगन के पास जा पहुँचा। मानसिंह की दुर्बल देह में बिजली-सी दौड़ गई, अपना रिवाल्वर जल्दी से उठा और उछलकर खाई की दीवार से सटकर धीमे स्वर से पूछा—"दुश्मन कितनी दूर है?"

"दूर ! अजी सिर पर हैं सिर पर!"

पास की खाई से एक साथ बहुत-सी बन्दूकें गर्ज उठीं। मानसिंह को ध्यान आया कि जिस समय वह उस छाया-मूर्ति से उलझ रहा था, उसके चारों ओर एक अजीब गड़गड़ाहट हो रही थी।

"और...वे दोनों...रामसिंह और जगधर कहाँ हैं!" घबराकर मानसिंह ने पूछा।

खाई के एक कोने से उत्तर मिला, "मानभाई ! मैं इधर हूँ!"

दूसरे कोने से खिन्नभाव से हँसकर जगधरसिंह ने कहा—"अजीब आफ़त है। ये साले न दिन देखते हैं न रात ! बर्फ कट रही है, तीर की तरह सनसनाती हुई फ्रांस की हवा देह भर छेदे दे रही है और ऐसे जाड़े-पाले में आक्रमण करने की सूझी है हरामजादों को!"

मानसिंह कुछ याद आ जाने से झट बोल उठा—"मगर आगे एक कर्नल हंटले की गोरों की एक कम्पनी है न ! उन खाइयों को पार किये बिना वे यहाँ तक आवेंगे कैसे।"

और तब उत्तेजित होकर जगधरसिंह ने कहा—"गोरों की कम्पनी ! एकदम पास ही तो है! पर अकेली वह क्या कर लेगी?"

रामसिंह ने जगधरसिंह का अनुमोदन करते हुए कहा—"दुश्मन हैं तो क्या सच बात न कहूँ...जर्मन कुछ लड़ना जानते हैं।"

गदाधरसिंह ने ल्युइसगन को घुमाते हुए गम्भीर स्वर में कहा—"यहाँ खाई में कुल चार ही जवान हैं, यदि समय पर यहाँ कुमक न पहुँच सकी तो फिर क्या होगा?"

रामसिंह ने लापरवाही के साथ कहा—"मरने से यहाँ कोई नहीं डरता। एक बार काल से भी मोर्चा लेंगे। यहाँ, आने दो सालों को, एक-एक को समझेंगे।

उसे झिड़ककर मीठे स्वर में गदाधरसिंह ने कहा—"मूर्ख हो क्या? मैं कुछ अपने लिए कहता हूँ? चार-पाँच फर्लांग पर मेडिकल अफसरों और नर्सों के खेमे हैं, उनके पीछे शस्त्रागार है, और पीछे महत्त्वपूर्ण खाइयाँ हैं। हमारे पुराने कर्नल साहब दूरदर्शी थे। वे लड़ाई में मारे गये। उनकी जगह आये हंटले साहब ! इन्हें उतना अनुभव है नहीं। नहीं तो इस मार्के की खाई में सिर्फ चार ही सैनिक रक्खे जाते?"

सहसा मानसिंह सूखे कंठ से बोल उठा—"जाओ भैया गदाधर ! अभी, इसी दम ! दौड़ते हुए जाना और जहाँ मिले वहाँ से कुमक ले आओ।"

उसने लपककर गदाधरसिंह के हाथ से ल्युइसगन ले ली और कहा—"अगर मलेरिया से कमजोर न हो गया होता तो मैं ही दौड़ जाता। डर लगता है कि कहीं ठोकर खाकर गिर न पड़ूँ और तुम लोग आसरे में राह देखा करो।"

हतबुद्धि होकर गदाधर ने कहा—"मैं चला जाऊँ? तुम्हारी देह तप रही है जैसे आग हो। गन कैसे चलाओगे? वे दोनों चलाना नहीं जानते। तुम जानते हो, लेकिन...।"

अधीरता-पूर्वक मानसिंह ने उसे धक्का देकर कहा—"बात करने का मौका नहीं है भाई। जाओ—जल्दी।"

कोई उपाय न देख और मानसिंह के कथन की

सत्यता का अनुभव कर गदाधर अविलम्ब एक ओर दौड़ गया। मानसिंह की देह भीतर बाहर एक-सी जल रही थी।

(३)

दुश्मनों की गोला-बारी बढ़ती ही गई। जर्मन बढ़ते-बढ़ते अब एकदम सामने आ गये थे। गोलों के प्रकाश में मानसिंह ने प्रलयंकर गति से जर्मनों को आगे बढ़ते और स्वपक्ष के सैनिकों तथा अफसरों को गिरते हुए देखा। खाइयों से निकल-निकलकर सैनिक गुथ पड़े थे और दुश्मन को रोकने की चेष्टा कर रहे थे।

"फ़ायर!" उच्च स्वर से मानसिंह ने कहा। यद्यपि उसका स्वर लोगों के प्रबल गर्जन में सुन न पड़ा, तथापि उसी क्षण गन और बन्दूकें गर्ज उठीं। पर ख़ुद अपनी ही तरफ के सात-आठ सैनिक हताहत होकर गिर पड़े। मानसिंह ने यह देखते ही अपना हाथ रोक लिया, उसी क्षण एक भीषण गोली उसके आ लगी और रक्त की एक तीव्र फुहार से उसका मुख रग गया।

सामने जर्मन खाई में कूद पड़ने को बढ़े चले आ रहे थे। मानसिंह एक हाथ से घाव को दबाकर गन चलाने लगा, स्वपक्ष के सैनिक पीछे हटकर खाइयों में पहुँच चुके थे, जर्मनों पर सीधी मार पड़ रही थी। एक-दो-तीन-दस बीस... ! एक-एक करके जर्मन गिरने लगे, फौज में कुछ हलचल सी हुई। पर अब तक बहुसंख्यक जर्मन बगल की हो रही मार की बिना परवा किये आगे बढ़ गये थे, पर पीछे वाले इन खाइयों की ओर झुके। एक जर्मन ने खाई में कूदकर मानसिंह की ल्युइसगन पकड़ ली और मानसिंह की कमर में अपने भारी बूटों से एक ठोकर मारी। उस आघात को सहकर मानसिंह ने सैनिक के पेट में दोनों पैरों से धक्का देकर दूर ढकेल दिया। एक बार कराहकर उसने शरीर की सम्पूर्ण शक्ति का संचय कर अपने जूतों से उसे रौंद-रौंदकर बेहोश कर दिया। पर तीन-चार शत्रु और खाई में कूद आये।

सहसा दाईं ओर से...वाह गुरु की फतह, वाह गुरु खालसा!" और गोलियों की धड़ाधड़ वर्षा होने लगी।

मानसिंह, जगधरसिंह और रामसिंह दो दो जर्मनों से हाथापाई कर रहे थे। मानसिंह जान गये कि शत्रु के दाईं ओर से सिक्ख-पलटन का आक्रमण हुआ है। उत्साह-पूर्वक अपने को बढ़ावा देते हुए उसने चिल्लाकर कहा— "वाह गुरु फतह, मार लेना मैदान, बढ़ आना वीरो!"

सिक्ख जवान एक ही छलाँग में इस तरफ की खाइयों में आ धँसे। दस-बीस जर्मन खाइयों में घुस आये थे, उनसे गुत्थम-गुत्था करने लगे। कुछ क्षणों में खाइयाँ साफ हो गईं। खाईवाले जर्मन मारे गये। आगे वाले आगे और पीछे वाले पीछे रोक दिये गये। वे दो भागों में विभक्त हो चुके थे।

"मानसिंह! शाबास है भाई! हटो मैं गन चलाता हूँ।" जमादार नायकसिंह ने मानसिंह, के हाथ से गन ले ली। मानसिंह किनारे हट गया, एक साथी ने उसके साफे को छाती पर कसकर बाँध दिया।

गन चलाते-चलाते जमादार ने मानसिंह को लक्ष्य करके कहा—"गदाधरसिंह ने मौके पर खबर पहुँचाई। कर्नल स्मिथ साहब ने सुनते ही कहा—दौड़ो भाइयो! सब संगीनें चढ़ा दौड़ पड़े।"

जमादार नायकसिंह और मानसिंह की पुरानी जान-पहचान थी। दोनों रेजीमेंटें एक ही जहाज से फ्रांस की जमीन पर उतरी थीं, कुछ दिन एक साथ ही किसी मोर्चे पर लड़ी भी थीं। जमादार कह रहा था—"अँगरेजी कम्पनी ने भी खबर भेजवाई थी, हम चल चुके थे। सोच रहे थे कि किस ओर बढ़ें। तब तक गदाधरसिंह ने बताया कि महत्त्वशाली खाइयाँ खतरे में हैं! बस दस टुकड़ियों में फौज बँट गई, मैं इधर आया और और सब जगह-जगह खाइयों की ओर बँट गये। कोई ठिकाना है पूरी कम्पनी की कम्पनी का निशान तक मिट गया।"

"क्या सब मर गये?" चौंककर मानसिंह ने पूछा।

"न मरे होंगे तो मरने वाले होंगे।" जमादार नायकसिंह ने जवाब दिया। फिर कुछ रुककर उसने कहा— "पर भाई, इतना कहे रखता हूँ कि यदि हम लोग यहाँ होते तो मजाल थी कि साले एक पग भी आगे बढ़ पाते। गदाधरसिंह के पाँच गोलियाँ लगी थीं, वह तो उसी जगह ठंडा हो गया। पर वह था भी बड़े जीवट का, गिर-गिर पड़ता था, देह भर में गोलियाँ धँसी थीं, तो भी दौड़ा चला गया, सन्देश कहा और मर गया।"

मानसिंह के मुंह से निकलकर एक तीव्र कराह वायुमंडल में विलीन हो गई। काँपकर उसने पूछा—"कुछ सुना है?"

"क्या सुनूं? यहाँ से वहाँ तक—तीन-चार मील तक—बस आदमी ही आदमी बिछे हैं। हमारी ओर के तो कम, जर्मन बहुत मरे हैं।"

जमादर की बात मानसिंह ने शायद सुनी ही नहीं। खाई से साठ कदम के फासले पर एक सैनिक पड़ा तड़प रहा था। गोलों के प्रकाश में मानसिंह की दृष्टि स्थिर हो गई, वह एकटक उसकी ओर देखने लगा। जमादार ने मानसिंह की ओर देखकर कुछ करुण-सिंचित स्वर में कहा—"सोना चाहो तो तुम आराम से उधर लेट जाओ मानसिंह!"

मानसिंह फीकी हँसी हँसकर रह गया। कुछ देर सैनिक की ओर देखते रहकर वह खाई के बाहर निकल रेंगता हुआ सैनिक की ओर बढ़ा। एक गोला धड़ाम से पाँच गज के फासले पर फटा। मानसिंह ने तिरछा होकर पृथ्वीमाता की गोद में मुख छिपा लिया। गोलियों की एक भारी बौछार आई, गोलियाँ पानी की तरह बरसीं, कई तो मानसिंह की देह को छूती निकल गईं। एक मिनट के बाद मानसिंह धीरे-धीरे आगे खिसकने लगा। सैनिक ने गोलों के प्रकाश में अपनी ओर बढ़ते हुए किसी को देखा। गोलियों की एक बौछार फूलों की तरह मानसिंह के चारों ओर बिखर गई। मानसिंह तेजी से उठकर भागा और उसी सैनिक के बगल में जा गिरा! ओठों तक आई हुई कराह को बड़े यत्न से दबाकर हाँफते हुए मानसिंह ने कहा—"क्यों...जी! क्या तुम्हें बहुत अधिक चोट लगी है? उठ सकते हो?"

विस्फारित नेत्रों से मानसिंह की ओर देखते हुए सैनिक के मुँह से निकल पड़ा—"ओह मानसिंह!"

पलक मारते मानसिंह ने उस सैनिक को पहचान लिया। स्तब्ध भाव से वह उसकी ओर देखते हुए बोला—"कर्नल साहब!"

कर्नल हंटले साहब ने कहा—'तुम यहाँ क्यों आये?" मन की घृणा को दबाकर रूखी हँसी हँसकर मानसिंह ने कहा—"क्या करता कर्नल साहब! छिपने के लिए मैं कोई जगह खोज रहा था।"

कर्नल साहब का गोरा मुख एकदम स्याह हो गया। उन्होंने लड़खड़ाते स्वर में कहा—"मेरे पैरों में गोलियाँ लगी हैं, मैं तो अपनी जगह से हिल भी नहीं सकता मानसिंह!"

उत्तर में मानसिंह ने कर्नल साहब की गर्दन और घुटनों में हाथ डालकर उन्हें उठा लिया और एक साँस में दौड़कर सबसे पासवाली खाई में कूद पड़ा। सैनिकों ने हाथों-हाथ उन दोनों को उठाकर अपने पीछे पहुँचा दिया और फिर लड़ने लगे।

खाई में एक मेडिकल अफसर भी था, समाचार पाते ही वह घायलों को देखने के लिए आ पहुँचा। हाथ से संकेत करके धीरे-धीरे मानसिंह ने कहा—"मुझे नहीं, कर्नल साहब को देखिए! उनके पैर में गोली लगी है!"

मानसिंह खाई की दीवार से टिककर खड़ा हो गया। जल्दी-जल्दी साँस लेकर उसने समीपवर्ती सैनिक को लक्ष्य करके पूछा—"अब क्या हाल है?"

प्रसन्नचित्त हँसमुख युवक ने जवाब दिया—"सब अच्छा ही है!"

"जर्मन?"

"हाँ, आगे वाले हजारों खेत रहे, सैकड़ों पड़े कराह रहे हैं। बड़ा बुरा हाल है उनका, एक भी बेदाग नहीं बचा है!"

"पानी चाहिए!" मेडिकल अफसर ने कहा। सबने अपना-अपना थैला टटोला। किसी के पास एक बूंद पानी न था। सैनिकों के मुख काले पड़ गये। उन्होंने त्रस्त भाव से एक-दूसरे की ओर देखा, जिसका अभिप्राय स्पष्ट था—"अब क्या होगा। हमें प्यासों मरना पड़ेगा क्या?"

अफसर ने कुछ क्षण उत्तर की प्रतीक्षा की, उत्तर न पाने पर बात समझकर चिन्तित स्वर में पूछा—"तो फिर क्या होगा?"

लेफ्टिनेंट ने खाई के पीछे की ओर उँगली उठाकर कहा—"गार्डन नदी यहाँ से केवल दो सौ गज के फासले पर बह रही है। क्या वहाँ किसी को भेजा जाय?"

मानसिंह किसी के बोलने के पूर्व ही झट बोल उठा—"मैं जाता हूँ।"

नदी की ओर दौड़कर जाते हुए मानसिंह की ओर स्तब्धभाव से एक बार देखकर लेफ्टिनेंट और मेडिकल अफसर ने एक लम्बी साँस ली—जीवन-मृत्यु से खेलनेवाले ये लोग कैसे वीर हैं!"

(४)

"कायर!" मानसिंह ने स्पष्ट देखा कि वही छाया-मूर्ति, मानसिंह के बाप-दादों की बन्दूक हाथ में लिये, बराबरी से चलती हुई टेढ़ी गर्दन करके उसकी ओर देखकर बोली—"कायर!"

मानसिंह की अन्तरात्मा कराह उठी। उसकी छाती में मुक्का-सा लगा—"कायर!"

"क्या मैं कायर हूँ?"

"तेरी छाती का भारी घाव!" छाया ठठाकर हँस पड़ी। उसने कहा—"मानसिंह तू मन में अवश्य अपने को बड़ा वीर समझता है, पर यह तो कह कि क्या तेरी छाती का घाव हाँ-हाँ मैं देख रहा हूँ, उसमें से खून बह रहा है—वह घाव धोखे से नहीं लगा है।"

मानसिंह चलता गया और जब नदी से पानी लेकर लौटने लगा तब गोलियों की एक बौछार आई और उसके चारों ओर पुष्पों के समान बिखर गई। मानसिंह के मुख पर एक क्षीण हँसी की रेखा चमक गई। उसने कहा—"पर मैं इन गोलियों से कहाँ डरा?"

"और यदि डरते तो कर ही क्या लेते? क्या गोलियों की वर्षा रोक सकने की शक्ति तुझमें है? है तो रोक लो।"

मानसिंह कसकर दौड़ पड़ा। 'सुनो।' पीछे से पुकारकर उस छाया ने कहा—"जिस स्थान से तुम पानी लाये हो, उस जगह से सिर्फ सौ ही गज की दूरी पर दुश्मनों की खाई है। तुमने देखा नहीं कि वे गोलियाँ दूर की चलाई हुई नहीं थीं। एकदम पास से चलाई गई थीं और दाईं ओर से... ।"

मानसिंह ने खाई में उतरकर पानी से भरी दोनों बाल्टियाँ भूमि पर रखते समय देखा कि घायलों की संख्या चौदह के लगभग है और वे प्यास से तड़प रहे हैं।

"और पानी चाहिए?" उसने पूछा।

एक सैनिक ने मानसिंह की ओर आशा-पूर्ण दृष्टि से देखा। लड़ते हुए सभी सैनिकों के गले मारे प्यास के सूख रहे थे। खाई के एक किनारे गढ़े में कीचड़ में चुल्लू भर गँदला पानी भरा था पर वह था किस काम का! मानसिंह ने सूखे गले से कहा—"अच्छा लाओ बाल्टियाँ!"

गार्डन नदी के बर्फ सरीखे पानी को बाल्टियों में भरकर मानसिंह ने पृथ्वी पर रख दिया। यहाँ से वहाँ तक बीसों हताहत सैनिक और उनके अस्त्र-शस्त्र पड़े थे। मानसिंह ने एक बन्दूक उठा ली, उसके पैर एक अज्ञात दिशा की ओर बढ़ रहे थे।

वह रुका—पेट के बल जमीन पर खिसकता हुआ बन्दूक को मजबूती से पकड़े वह शत्रु की खाई के बगल में जा पहुँचा। वहाँ से दुश्मनों की मशीनगनें और उनके पास कार्यतत्पर कुछ जर्मन स्पष्ट गोचर हो रहे थे। मानसिंह विचार-शून्य-सा हो रहा था, तो भी उसने मशीनगन को ताककर एक-दो-तीन-चार-पाँच गोलियाँ छोड़ दीं।

एक गम्भीर धड़ाका!

मानसिंह की आँखें आपसे आप बन्द हो गईं। आँखें खुलने पर उसने अपने को धूल-धूसरित पृथ्वी पर पड़ा पाया। धूल झाड़कर एक विचित्र मुद्रा से सिर हिलाता हुआ वह उठ खड़ा हुआ—सामने खाई का कहीं पता न था। मानो आकाश में उड़ता हुआ, लम्बे-लम्बे डगों से दौड़ता हुआ वह अपनी खाई में जा पहुँचा।

मेडिकल अफसर ने आदर की दृष्टि से मानसिंह की ओर देखा पर... । मानसिंह के सब वस्त्र रक्त से तर थे। छाती के बँधे घाव से लगातार घंटों से खून वेग से बह रहा था और मानसिंह दीवार से देह टिकाये श्रान्त भाव से मलिन-मुख खड़ा था। हाँ, उसने अपना सिर भी दीवार पर टेक दिया, जैसे वह बहुत थका हो।

अफसर ने चकित होकर पूछा—"मानसिंह, तुम्हें घाव कब लगा?"

"क...हीं... नहीं...!" मुश्किल से उसके मुख से निकल सका था।

"अच्छा आओ, मैं तुम्हारे घाव में पट्टी बाँध दूँ।"

मानसिंह अपनी जगह से हिला तक नहीं, उसके पलक धीरे से उठे और तत्काल गिर गये।

"मान!" अत्यन्त कोमल-स्वर में उन्होंने बुलाया और उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा—"मानसिंह इधर चलो!"

उत्तर में मानसिंह की मृत देह नीचे मुँह किये धड़ाम से अफसर के पैरों के पास लुढ़क गई। पता नहीं किस समय गोलियों की एक बौछार आकर उसके शरीर को चलनी बना गई थी।

दवाओं का बक्स और घायल उन गोलियों की मार से बच गये थे। और मानसिंह!

उसके मुख पर हँसी की मंद रेखा प्रस्फुटित हो रही थी। शायद कर्नल हंटले के नेत्रों से दो अश्रु-कण भी लुढ़क पड़े थे!

"वह कायर?"

१९४१

❀ ❀ ❀

तीन बच्चें

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान

(१)

मेरे बच्चों में से प्रत्येक ने अपने लिए एक-एक फूलों का बगीचा लगाया था। बग़ीचा क्या फूलों की छोटी-छोटी क्यारियाँ थीं। एक दिन सबेरे हम लोगों ने देखा कि उन क्यारियों में फूल खिल आये हैं।

बच्चे ही तो ठहरे! हर एक को अपनी-अपनी क्यारी के फूल अधिक सुन्दर जान पड़े—और इसी बात पर उन लोगों में लड़ाई छिड़ गई। हर एक का कहना था कि उसकी क्यारी के फूल सबसे अधिक सुन्दर हैं।

बात बढ़ते-बढ़ते फूलों से हटकर दूसरे ही क्षेत्र में जा पहुँची। एक हिटलर बना, तो दूसरा मुसोलिनी और तीसरा स्टालिन। और मुझे इन तीनों की मा बनने का सौभाग्य, एक साथ ही, प्राप्त हो गया।

संग्राम में विषैले वाक्यों का प्रयोग होते सुनकर, मुझे चौके का काम छोड़, बगीचे की ओर जाना पड़ा। मुझे देखते ही सब एक साथ, अपने-अपने पक्ष का समर्थन कर, न्याय की दुहाई देने लगे। न्याय का कार्य उतना आसान न था, जितना एक अदालत के जज का होता है। जज के पथ-प्रदर्शन के लिए कानून होते हैं और नजीरें भी। चाहे लकीर की फकीरी में अन्याय ही क्यों न हो जाय, पर उसका मार्ग स्पष्ट रहता है। मेरे सामने न कानून था, न नजीर—फिर भी मुझे यह लड़ाई समाप्त करनी थी—और न्याय-पूर्वक!

मैं सोच ही रही थी कि निर्णय के लिए जूरी क्यों न नियत कर दिये जायँ कि इतने में ही बच्चों के काका जी आते दिखे। चीखना-चिल्लाना तो दूर, उन्हें किसी का पंचम स्वर के ऊपर बोलना तक पसन्द नहीं है। बच्चों को लड़ते देखकर बोले— अच्छा, यह लड़ाई किसलिए है? यदि तुम लोग लड़े-भिड़े तो मैं तुम्हारी मा को सत्याग्रह न करने दूँगा।"

मेरे हिटलर-मुसोलिनी शान्त हो गये। मा के बिना जिन्हें स्कूल जाने तक में कष्ट होता है; मा के बिना जिनका एक भी काम नहीं हो सकता; वही मेरे बच्चे जी से चाहते थे कि मैं सत्याग्रह करूँ और जेल जाऊँ।

अब मैंने उनसे पूछा कि कोई शिकायत तो नहीं है, तो सब एक स्वर से बोल उठे— 'नहीं मा, सभी क्यारियों के फूल बहुत सुन्दर हैं। तुम सत्याग्रह करो और जल्दी जेल जाओ।"

हम सब भीतर जाने को उठ ही रहे थे कि बाहर से गाने की आवाज आई—गाना कोरस में था और स्वर था बच्चों का-सा—

"भगवान् दया करना इतनी,
मोरी नैया को पार लगा देना।"

और अब तो हम सभी दर्वाज़े की ओर दौड़ पड़े।

इसी समय दूसरा पद सुनाई पड़ा—"मैं तो डूबत हूँ मझधार पड़ी, मोरी बैयाँ पकड़के उठा लेना।"

बाहर आकर देखा—तीन बच्चे थे—दो लड़कियाँ और एक लड़का। बड़ी लड़की होगी दस बरस की; छोटी आठ और सात के बीच में थी और लड़का, वही बड़ी की गोद में ही था—कोई पाँच साल का। हम लोगों को देखते ही उन्होंने गाना बन्द कर दिया। लड़के को गोद से उतार कर, बड़ी ने जमीन से माथा टेककर, हमें प्रणाम किया। उसकी देखा-देखी छोटी लड़की और लड़के ने भी जमीन से माथा टेका और तीनों ने अपने चीथड़ों में छिपे हुए पेट को दिखाकर यह बतलाया कि वे भूखे हैं। बड़ी के हाथ में एक झोली थी और छोटी के हाथ में एक टीन का डिब्बा। उन्होंने एक बार झोली की ओर देखा जो बिलकुल खाली जान पड़ती थी; फिर हमारी ओर याचना की दृष्टि से देखने लगे। मैंने उनसे कहा—"तुम गाती तो बहुत अच्छा है; और भी कोई गाने जानती हो ?"

बड़ी के बोलने के पहले ही छोटी बोल उठी—"हमें भजन भी आते हैं; बड़ी मालकिन !"—और आदेश पाये बिना ही वे दोनों गाने लगीं—

"कमर कस ले रे बिलोची, तेरे संग चलूँगी।
तेरे संग चलूँगी रे तेरे साथ चलूँगी।
कमर कस ले ....।
मेरे साथ चलेगी तो तेरी अम्मा लड़ेगी.........।"

हम लोगों की हँसी अब दबाये न दबी। अम्मा के लड़ने की बात सुनते ही वह फूट पड़ी। वे सभी शर्माकर चुप हो गये। उनकी दृष्टि से ऐसा जान पड़ता था कि वे किसी अज्ञात भूल से दुखी हो गये हैं। मैंने हँसी रोककर, आश्वासन के स्वर में कहा—"बहुत अच्छा गाया।" मेरी बात सुनते ही वे फिर बैठकर लगे जमीन से माथा टेकने। मैंने पूछा—"तुम्हें क्या चाहिए—पका हुआ खाना या कच्चा ?

बड़ी ने फिर जमीन से माथा टेककर कहा—"कुछ भी खाने को चाहिए, बड़ी मालकिन ! कल से कुछ नहीं खाया है। मैंने बच्चों से कहा कि इन्हें दो-दो पूरियाँ लाकर दे दो,—और मैं अन्दर चली गई।

बच्चों ने इन्हें कितनी-कितनी पूरियाँ दीं, यह तो मैं नहीं कह सकती पर जब चौके में जाकर देखा तो न डिब्बे में एक भी पूरी थी और न कटोरे में तरकारी।

(२)

दूसरे दिन हम लोग सुबह की चाय पीकर उठने ही वाले थे कि वे बाल-गवैये फिर आ पहुँचे। हमें, कोमल स्वर में, सुनाई पड़ा—

"साँवरिया हमें भूल गयो, सखि, साँवरिया।
बिंदराबन की कुंज गलिन में बाज रही है बाँसुरिया।
हमें भूल गयो, सखि, साँवरिया।"

मैंने अपने बच्चों से कहा—"कल तुमने उन्हें खूब पूरियाँ खिलाई थीं न ! अब वे सब फिर आ गये। जैसे उनके लिए यहाँ रोज ही पूरियाँ धरी हैं !"

"धरी तो हैं, मा !" एक साथ ही बच्चों के मुँह से निकला और सबके हाथ एक साथ ही पूरी के डिब्बे की ओर बढ़े।

मैंने उन्हें रोकते हुए कहा—"ठहरो, ठहरो ! रोज-रोज उन्हें पूरियाँ खिलाओगे तो वे दर्वाजा ही न छोड़ेंगे। उन्हें चावल या आटा देकर जाने को कह दो।"

एक बच्चा बोल उठा—"बिचारे छोटे-छोटे बच्चे; न जाने उनकी मा भी है या नहीं। वे भला कहाँ पकायेंगे ?"

दूसरा ताने के स्वर में बोला—"इससे तो यही अच्छा है कि उन्हें कुछ भी न दिया जाय।"

सबसे छोटा बोला—"तुम भी मा होकर ऐसा क्यों कहती हो, मा, ! उन बिचारों को भी भूख लगी होगी। हमारे हिस्से की ही दे दो।"

लड़की सब में समझदार थी। उसकी दृष्टि यही चाह रही थी कि मा का इशारा भर मिले और पूरियों का डिब्बा ले जाकर वह उन बच्चों को खिला दे।

मैंने उदासीनता से कहा—"पूरियाँ ही दे दो, पर शाम को फिर तुम्हारे लिए नाश्ता बनाना पड़ेगा।"

"मा, हम शाम को नाश्ता नहीं करेंगे!", एक स्वर में एक साथ बच्चों ने कहा और हाथ में पूरियाँ लिए हुए दर्वाजे की ओर दौड़ पड़े।

चौके का काम निपटाकर, मैं भी बाहर गई। देखा वे तीनों बड़े मजे में पूरियाँ खा रहे थे और मेरे बच्चे भी बड़े उत्साह से उन्हें परस रहे थे। जब वे खा-पीकर उठे तो मैंने कहा—"देखो भाई ! तुमने पूरियाँ तो खा लीं। अब बिना गाना सुनाये न जाने पाओगी।" उन्होंने कृतज्ञता-पूर्वक माथा जमीन पर टेककर गाना शुरू किया—

"अब न रहूँगी कान्हा, तोरी नगरिया।
हाट-बाट मोरी गैल न छोड़े,
पनघट पर मोरी फोरे गगरिया।
अब न रहूँगी.......॥"

गाना गा चुकने के बाद उन्होंने फिर जमीन से माथा टेका, जैसे हमें आशीर्वाद देकर जाने के लिए उद्यत हों, पर मैंने उन्हें रोककर पूछा—"क्या तुम तीनों भाई-बहिन हो ?"

"हाँ, बड़ी मालकिन"—बड़ी लड़की ने कहा।

मैंने पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है ?" अपना नाम उसने 'ईठी', छोटी बहन का नाम 'सीठी' और भाई का नाम 'प्रेमा' बतलाया।

'ईठी, सीठी, प्रेमा, उनका नाम दुहराते हुए मैंने पूछा—"क्या तुम्हारे मा-बाप कोई नहीं है। तुम कल भी अकेले आये थे, आज भी।"

छोटी लड़की बड़ी तत्परता से बोल उठी—"मा भी हैं और बाप भी है, बड़ी मालकिन;—हमारे सब कोई हैं।"

"कहाँ हैं तुम्हारे मा-बाप जो तुम्हें इस तरह अकेले फिरने को भेज देते हैं ?"

"बाप अमरावती में हैं और मा........."

"अमरावती में तुम्हारा बाप क्या करता है ?" मेरा छोटा लड़का बीच में ही पूछ बैठा।

"जेल में हैं, छोटे बाबू !" बड़ी लड़की ने उत्तर दिया।

"जेल में हैं ? मैंने कुछ अनास्था से पूछा—"जेल क्यों हुई उसे ?"

लड़की बोली—"वह दारू जो पीता था ! और दारू पीकर वह चुप भी नहीं रहता था। दंगा करता था, मा को मारता था, गाली बकता था और इसी लिए तो...... (लड़की आँख उठाकर मेरी ओर देखते हुए बोली) बड़ी मालकिन, पुलिसवालों ने उसे पकड़ा; और सब लोग कहते हैं पुलिसवालों ने ठीक किया।"

"और तुम्हारी मा, वह अब कहाँ है ?" मैंने पूछा।

लड़की बोली—"मा ? ...वह भी तो जेल में है। और उसी के साथ हमारा सबसे छोटा भाई भी है। वह तो (अपने भाई की ओर उँगली से दिखाकर लड़की ने कहा) प्रेमा से भी छोटा है। वह रोता नहीं। इससे अच्छा है।"

"बेचारे बच्चे !" मेरे मुँह से निकल पड़ा—"मा-बाप दोनों जेल में और ये अनाथ सड़क पर भीख माँगते फिरते हैं।"

मैंने फिर पूछा—"तुम्हारी मा ने क्या किया था ?"

लड़की बोली—"हमारी मा ने पुलिस वाले को मारा था—जिसने हमारे बाप को पकड़ा था न, उसी को। और फिर वे मा को भी पकड़ ले गये। बड़े बुरे होते हैं पुलिसवाले—हमारी मा को भी ले गये। मा के बिना हमको भी बुरा लगता है पर यह प्रेमा तो रात-दिन रोता ही रहता है।"

मैंने लड़के की ओर देखा—बेचारा छोटा-सा बच्चा; मुश्किल से पाँच बरस का; फटे चीथड़े में लपटा हुआ; सिर में महीनों तेल का नाम नहीं; रूखे बिखरे बाल; न जाने कब से नहाया नहीं था; शरीर पर एक मैल की तह-सी जम गई थी; गालों पर आँसुओं के निशान बने हुए थे; आँसुओं के साथ-साथ उस स्थान की मैल जो धुल गई थी। मुझे उस बच्चे पर बड़ी दया आई। मैंने उस लड़की से पूछा—"तुम लोग अपनी मा से जेल में मिलने नहीं जातीं ?"

छोटी बोल उठी—"जाती हैं बड़ी मालकिन।" बड़ी ने कहा—"तीन महीने में एक बार मुलाकात होती है। एक बार मुलाकात करने गये थे; दूसरी बार तीन महीने के बाद जब हम लोग गये तब मालूम हुआ कि मा को यहाँ के जेल में भेज दिया है। तो हम लोग सब काली मा के साथ यहाँ चले आये। काली मा भी भीख माँगती है।"

"तुम लोग रात को कहाँ रहती हो ? सोती कहाँ हो ? तुम्हें डर नहीं लगता ?" मैंने पूछा।

बड़ी लड़की ने कहा—"जेल के पास एक नाला है। हम लोग रात को वहीं पुल के नीचे मा की बातें करते-करते सो जाते हैं। कभी-कभी काली मा भी आ जाती है पर वह रोज नहीं आती।"

"मा की सजा कितने दिन की है?"

"दो साल की" बड़ी लड़की ने कहा, "हम रोज जेल को देखते हैं। हमारी मा वहीं तो है। जब मा छूटेगी हम उसको साथ लेकर देश जायँगे।" एक प्रकार की खुशी से बालिका पुलकित हो उठी। अपनी मा को लेकर जैसे वह सचमुच देश जाने की तैयारी कर रही हो।

मैंने लड़की से पूछा—"तुम लोग नहाती हो कभी?"

संकोच से बड़ी लड़की चुप रही। छोटी ने कहा—"हमारे पास दूसरे कपड़े नहीं हैं न।"

मेरा इशारा पाते ही मेरे बच्चों ने अपने पुराने कपड़ों में से, उनके पहनने के लिए, बहुत-से कपड़े ला दिये।

मेरा चित्त उदास हो गया। मैं कमरे में बैठकर कुछ सोचने लगी और वे बच्चे कपड़े लेकर खुशी-खुशी चले गये।

कुछ दूर से गाने की आवाज आई—

'मैं तो डूबत हूँ मझधार पड़ी,
मोरी बैंयाँ पकड़के उठा लेना।"

बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पद पढ़े, लिखे और सुने थे। पर स्वर और आत्मा का ऐसा संयोग तो कहीं नहीं देखा था, शब्द और वस्तु का ऐसा मेल तो कभी चित्रित नहीं हुआ।

मैं उन्हें बुलाने के लिए झपटी, परन्तु तब तक वे दूर निकल गये थे।

(३)

इस घटना के दूसरे ही दिन, मैं भी युद्ध-विरोधी सत्याग्रह करके, जेल की अतिथि बनी, मेरे और बच्चों ने तो हँसी-खुशी से बिदाई दी पर सबसे छोटी–मिनू–बहुत छोटी होने के कारण, मुझे छोड़कर घर में न रह सकती थी। अतएव वह मेरे साथ ही गई।

उस समय जबलपुर जेल में कोई अन्य राज-बन्दिनी न थी। अकेले होने के कारण मैं अस्पताल में रखी गई। मेरी सेवा के लिए दो साधारण कैदी स्त्रियाँ रात में मेरे साथ रहती थीं। दिन में सब लोग एक साथ रह सकते थे।

कैदखाने की दुनिया भी एक विचित्र ही वस्तु है।

यह कौन है? चोर।

यह? यह चरस बेंचती थी और इसने अपने नौजात शिशु की हत्या करने की चेष्टा की थी, पर मा होकर यह हत्या कर सकती थी—इसका मुझे विश्वास न हुआ।

और यह लड़की? यह तो अभी बहुत कम उमर है! इसने क्या किया था? इसने अपने पति और सास को जहर दिया था!! मैं काँप उठी! विधाता! क्या यह सचमुच स्त्रियाँ हैं? क्या तुम्हारी ही आज्ञा से इनका भी सृजन हुआ था?

किन्तु, इसी समय जैसे कोई अन्दर से बोल उठा—'यह तसवीर का एक ही पहलू है—इसकी दूसरी ओर भी देखो! सम्भव है ये निर्दोष हों; सम्भव है ये देवियाँ हों।'

मेरी सेवा के लिए जो दो औरतें तैनात थीं, उनमें से एक तो अल्हड़-सी थी, जिसे कुछ काम-काज न आता था पर दूसरी समझदार थी। वह प्रौढ़ा थी। उसकी गोद में भी एक बच्चा था। वह बड़ी फिक्र से सब काम करती थी। वह अधिकतर चुप रहती थी, जैसे सदा मन ही मन कुछ सोचा करती हो। मिनू को तो उसने इस प्रकार हिला लिया था जैसे वह उसी की बच्ची हो। उसका खुद का बच्चा पाँव-पाँव चलता और मिनू चलती उसकी गोदी पर। वह पानी भरती तो मिनू उसके साथ होती; दाल दलती तो मिनू उसके साथ और बरतन मलती तो मिनू भी उसके साथ छोटी-छोटी कटोरियाँ और गिलास मलती दीख पड़ती। अन्त को बात इतनी बढ़ी कि वह मिनू को अपनी पीठ से बाँधकर झाड़ू देने लगी। उसका नाम था—लखिया।

लखिया और मिनू के इस स्नेह-सम्बन्ध से, लखिया के बच्चे को जो अभाव ज्ञात हुआ उसकी पूर्ति मैं उसे मिनू के फल और मिठाइयाँ दे-देकर करने लगी। वह प्रायः मेरे ही पास खेल करता। फल और मिठाइयाँ खाने से इस बच्चे को और पानी भरने, बरतन मलने तथा

बगीचा सींचने से मिनू को थोड़े ही दिनों में स्वास्थ्य का लाभ होता दिखाई पड़ा।

मैं बहुत सोचती थी कि यह लखिया कौन है। वह जेल क्यों आई? एक दिन अचानक मैंने मेट्रन से पूछा, जिसका उत्तर मिला—'ओह, ये बड़ा खतरनाक औरत है। इसने पुलिस को मारा है—पुलिस को। पर हामने उसका दिमाग ठीक कर दिया है। आपको कोई तकलीफ तो नहीं देता?'

अचानक मुझे उन बच्चों का खयाल आ गया। उनकी मा भी तो पुलिस को मारने के कारण जेल भेजी गई थी और उसके साथ भी तो एक छोटा बच्चा था। पूछना मैंने कई बार चाहा पर लखिया की गम्भीर और उदास मुद्रा देखकर, हिम्मत मेरी एक बार भी न हुई।

एक दिन रात को खूब पानी बरसा। खूब दहाड़-दहाड़ कर बादल गरजे और कड़क-कड़क कर बिजली चमकी। मुझे अपने बच्चों की याद आ गई। छोटा लड़का डरा होगा। दूसरे पलँग पर सोने पर भी वह बादलों के गरजते ही मेरे पास आकर सो जाता था। इसके साथ मुझे उन तीनों बच्चों की भी याद आई जो बिचारे पुल के नीचे सोते थे। कहीं......आगे सोचने की मेरी हिम्मत न पड़ी। मैंने प्रार्थना की "हे ईश्वर सब माओं के बच्चों को अच्छी तरह रख और सबके बाद मेरे बच्चों की भी रक्षा कर।"

(४)

जेल में मेरे पास अखबार आया करते थे। जेल की सभी कैदी स्त्रियाँ लड़ाई की खबरें सुनने को उत्सुक रहा करती थीं। उन्हें विश्वास था कि एक दिन ऐसा होगा जब जेल के फाटक टूट जायँगे और अवधि से पहले ही उनका छुटकारा हो जायगा। मैं भी उन्हें योरप की लड़ाई और भारत के सत्याग्रह की खबरें सुना दिया करती थी।

उस दिन शाम को अखबार आया और पढ़ते-पढ़ते मेरा जी धक से रह गया! जबलपुर की ही खबर थी–

'कल रात एकाएक पानी बरसा और खूब बरसा। जेल के पास के नाले में तीन गरीब बच्चे बह गये। उन तीनों की लाशें मिली हैं। बहुत खोज करने पर भी उनकी शिनाख्त नहीं हो सकी। दो लड़कियाँ हैं और एक लड़का। ऐसा सुना गया है कि वे गाना गाकर भीख माँगा करते थे।'

मेरे घर पर आकर गाने वाले उन तीन बच्चों का चित्र हठात् मेरी आँखों के सामने खिच गया और ऐसा जान पड़ा जैसे दूर से कोई गा रहा है—

"मैं तो डूबत हूँ मझधार पड़ी,
मोरी बैयाँ पकड़के उठा लेना।"

अखबार रखकर मैं आँसू रोकने का प्रयत्न करने लगी। अचानक मेरे मुँह से निकल गया—'बेचारे बच्चे!'

लखिया पास ही बैठी मेरे लिए चाय तैयार कर रही थी। उसने पूछा—"क्या खबर है, बाई साहब! अरे, उदास क्यों हो गई? बच्चों की याद आ रही है?"

मैं उसे कुछ भी उत्तर न दे सकी। वह फिर बोली–"थोड़े ही दिन तो और हैं, बाई साहब! कट ही जायँगे। फिर बच्चे अपने बाप के साथ तो हैं; फिकर क्यों करती हो।"

उसकी ओर देखने की मेरी हिम्मत नहीं थी पर मुझे ऐसा जान पड़ा जैसे उसने बात खतम होते न होते एक गहरी साँस ली और आँखों के आँसू पोछ लिये। मैंने अपनी सब शक्ति संचित करके उससे पूछा—"लखिया, तेरे और बच्चे हैं, या यही एक है?"

आँखों में आँसू और ओठों पर एक क्षीण मुसकुराहट के साथ वह बोली—"एक ही क्यों बाई साहब, (मेरी बच्ची की ओर इशारा करके) यह बिटिया भी तो है।"

मैंने कहा—"ये तो जेल के भीतर हैं। जेल के बाहर कितने हैं?"

लखिया एक गहरी साँस लेकर बोली—"जेल के बाहर, बाई साहब! वो तो भगवान् के हैं—अपने कैसे कहूँ?"

और इसके बाद वह अखबार की खबर पूछती ही रह गई पर मैं उसे कुछ भी न बतला सकी।

१९४१

बड़े दिन का शिकार

पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त

पात्र—

१—मिस्टर टांकिस—एक रेलवे गार्ड, छुट्टी पर।

२—प्रमोद—एक गन्ने के फार्म के मालिक का लड़का।

३—बिशन—प्रमोद का मुंशी।

४—एक साझी।

५—उसकी स्त्री।

६—उसकी गोद का बच्चा।

७—प्रमोद का ड्राइवर।

(स्थान—भावर का एक घना जंगल। समय—सन्ध्या, दाहनी ओर लैनटेनिया की घनी झाड़ी है। उसमें सूखे पत्तों की खड़-खड़ाहट सुनाई देती है। बाईं ओर से प्रमोद बन्दूक में गोली भरते हुए आता है। रुककर ज्यों ही घोड़ा दबाना चाहता है कि मिस्टर टांकिस आकर उसके हाथ को पकड़ उसे रोकता है।)

टांकिस—नहीं प्रमोद, यह शिकार के नियमों के खिलाफ बात है। बिना शिकार को देखे गोली नहीं चलाई जाती।

प्रमोद—ठहरो, हाथ मत खींचो, निशाना लगाने दो। (फिर घोड़े पर हाथ रखकर निशाना लगाता है। पत्तों की खड़खड़ाहट होती है।) फिर खड़खड़ाहट नहीं सुन रहे हो तुम? जरूर जंगली सूअर ही है। सूखे पत्तों पर उसकी चाल मैं साफ पहचानता हूँ। बोलो मत इस वक्त। मैं जरूर चलाऊँगा गोली। (गोली चला ही देता है।)

(झाड़ी के अन्दर से एक आदमी, एक औरत और एक गोद के बच्चे का रोना सुनाई देता है।)

टांकिस—लो कहा था न!

प्रमोद—कहाँ छिपा दूँ यह बन्दूक? दोस्त मदद करो। (उसकी ओर को बढ़ता है।)

टांकिस—मेरी ओट में कहाँ छिपने लगे?

प्रमोद—अब क्या होगा?

टांकिस—पास ही तुम्हारा मोटर खड़ा है। लेकिन भागना कायरता ही नहीं, पाप है।

(फिर जोर से रोने की आवाजें झाड़ी के अन्दर से आती हैं।)

प्रमोद—क़सूर अधिक उन्हीं का है। कहाँ झाड़ी के अन्दर घुसे! वह भी कोई जगह है?

आवाजें—हाय! हाय! मारि दिहिस!

—मरि गवा!

—ऊँ, ऊँ!

टांकिस—तुमने आज मुझे भी फँसाया। बड़े दिन की इन छुट्टियों को आनन्द में बिताने के लिए यहाँ आया था। लड़के ही हो तुम अभी।

प्रमोद—मर तो नहीं गया कोई!

टांकिस—चलो देख लें। इरादा तो हमारा था नहीं। अच्छी आफ़त खरीदी!

प्रमोद—अगर कोई मरा नहीं है तो क्या परवा है। घायल को अस्पताल पहुँचाने की कोशिश कर देंगे। यही पहला फ़र्ज है। पर, डरो नहीं, देखो। (जेब से नोटों का एक बंडल निकालकर उसे दिखाता है।)

टांकिस—यह क्या नोटों का पुलिंदा! जंगल में क्या इसी मतलब से रख लाये थे?

प्रमोद—गन्ने की ढुलाई का भुगतान करने के लिए चेक भुनाया था। गाड़ीवान आये नहीं, जल्दी में जेब में ही रख लाया। मुनीम जी छुट्टी पर गये हैं।

आवाज—हाय! हाय! अब हमार के बाय?

टांकिस—मरा तो नहीं जान पड़ता। घायल जरूर हुआ है कोई। चलो देखें, झाड़ी के अन्दर।

(दोनों झाड़ी की ओर बढ़ते हैं।)

प्रमोद—कौन हो जी तुम झाड़ी के अन्दर? यह भी

क्या किसी भले आदमी के घुसने की जगह है ? क्या हो गया ? इधर आओ।

साभी की औरत—(झाड़ी के अन्दर से) मारि दिहिस बा, मारि दिहिस बा।

टांकिस—झाड़ी के बाहर निकलो न।

साभी—(रोता हुआ) कैसन अइबू सरकार ! गोली लागि गवा।

प्रमोद—कहाँ ?

साभी—(रोकर) गोड़ मा।

प्रमोद—(धीरज की साँस लेता है।)

(सिर पर गठरी और रोती हुई लड़की को छाती से लगाये रोती हुई साभी की स्त्री झाड़ी के बाहर आने लगती है।)

टांकिस—गठरी सिर पर से उतार लो। डाली से अटक रही है।

(गठरी से लगकर एक सूखी टहनी टूटती है।)

साभी की औरत—(झाड़ी के बाहर आ खीझकर गठरी जमीन पर पटक देती है।) अब हम कैसन जियब, हमका तू मारि द्या।

प्रमोद—घबराओ नहीं। धीरज रक्खो। (झाड़ी के अन्दर से साभी के रोने की आवाज आती है।) अभी और कोई है ? कौन है वह ?

साभी की औरत—ऊ हमार मालिक हव्वन, उनकेर आप गोली मारि दिहिन। हम तोहार का बिगाड़ि दिहिन रहा ? ऊँ, ऊँ, ऊँ। (रोती है। उसकी गोद की लड़की भी।)

टांकिस—आता क्यों नहीं तुम बाहर ?

(दाहिने पैर में सिर का तमाम साफा लपेटे, बड़ी मुश्किल से खिसकते-कराहते साभी भी झाड़ी के बाहर आता है। उसके कंधे पर एक फटा-पुराना कंबल है, जो खिसककर जमीन पर गिर पड़ता है।)

साभी—(रोकर) कम्बल गिर गवा। एके उठाए ल्य घिसुवार म्हतारी !

टांकिस—इस झाड़ी में कहाँ से आकर मरे तुम ? इतनी बड़ी दुनिया में कहीं और जगह ही न रह गई थी तुम्हारे लिए ?

साभी—गरीब मनइ, मजूरी क तलास मा रहिन रहा। जंगल माँ रस्ता भूल गइन रहा। रात काटे बदे इहाँ चला आइन रहा। (चिल्लाकर) ओ, हो, हो, हो, बड़ा दरद बाय सरकार !

साभी की औरत—अब हमार के बाय दुनिया माँ। अब कैसन गुजर हइबे ? (रोती है।)

प्रमोद—(साभी की ओर बढ़ता है।) यह क्या सिर का तमाम साफा लपेट लिया पैर में। कहाँ पर लगी गोली ? देखूँ तो। खोलो यह पट्टी। (पैर में हाथ लगाता है।)

साभी—(पैर खींचकर जोर से रोता है।) अहाँ ! हाँ ! हाँ ! हाथ नाहीं लगाओ। बड़ा दरद बाय। ओ, हो, हो, हो, (दाँत पीसता है और लम्बी साँस छोड़ता है।) फ़ूऽऽ, हड्डी में छेद हो गवा बाबू। अब के मजूरी देबे ? कैसन रोटी मिलिबे ?

साभी की औरत—(रोती हुई) हाय ! हाय ! अब के मजूरी देबे, कैसन रोटी मिलिबे ? कैसन बच्चा जियबे ?

(बच्चा भी रोता है।)

टांकिस—धीरज रक्खो भाई ! अस्पताल पहुँचा देते हैं तुम्हें अभी। वहाँ इलाज हो जायगा, चंगे हो जाओगे।

प्रमोद—(जेब से नोटों का पुलिदा निकालता है।) यह देखो, नोटों का पुलिदा। (एक-एक कर नोट उलटता है।)

साभी—(रोता हुआ ही) अरे गरीब का के इलाज करिबे ? कैसन गोड़ जुड़िबे ? कैसन दो पइसा मिलिबे ?

प्रमोद—देखो इस तरह रोने-चिल्लाने से कोई फ़ायदा नहीं। हम अभी तुम्हें मोटर में अस्पताल पहुँचा देते हैं।

साभी—हाय ! हाय रे राम ! अब गोड़वा काटि दिहिन जइबे। तब का कमइबू, का खइबू ? (रोता है।)

साभी की स्त्री—(रोती हुई) दैय्या रे दैय्या ! अब गोड़वा काटि दिहिन जइबे। तब का कमइबू, का खइबू ?

प्रमोद—(साभी को नोटों का बंडल देते हुए।) लो।

साभी—का हौ ई ?

साभी की औरत—(उधर गौर से देखकर रोने के स्वर में।) हम हू देखि त।

टांकिस—नोट हैं सौ रुपये के। भाग खुल गये तेरे।

साभी—(नोट सँभालकर) सौ रुपये! राम जी तोहार भला करें। (डाँटकर स्त्री से) रो मत। (बच्चा रोता है, फिर औरत को भिड़ककर) चुप कर बचवा के।

साभी की औरत—(चुप हो जाती है। और थपकियाँ देकर बच्चे को भी चुप कराती है।) आ री ऽऽ निंदिया।

प्रमोद—अस्पताल में क्या कहोगे?

साभी—कै देबो हुजूर! गोड़वा माँ एक लक्कड़ घुस गवा रहा। जंगल माँ एक दरखत पर से गिर गइन रहा।

प्रमोद—ठीक है। इतनी अक्ल रखकर भी तुम यहाँ इस भाड़ी के अन्दर कहाँ छिपने आये?

टांकिस—नहीं तो ये सौ रुपये कैसे मिलते?

साभी की स्त्री—ई का जेब माँ राखि ल्येउ।

साभी—हाँ! (रुपये सँभालता है, अचानक टीस उठती है।) ऊँ ऽऽ (कराहता है।)

प्रमोद—(बाईं ओर को मुँह कर जोर से आवाज देता है।) ड्राइवर! ड्राइवर! जहाँ तक गाड़ी आ सके वहाँ तक लाकर जल्दी आओ।

टांकिस—चल सकोगे गाड़ी तक?

(नेपथ्य में दूर पर मोटरकार स्टार्ट होकर नजदीक को आती है।)

साभी—(कुछ उठने की कोशिश कर) हँ-अँ -अँ-अँ-अँ।

(नेपथ्य में पास ही मोटर के आने की आवाज वह हार्न देकर रुक जाती है। मोटर का दरवाजा खुलता है। ड्राइवर दौड़कर दृश्य में आता है।)

ड्राइवर—ले आया सरकार, मोटर।

प्रमोद—इसे अस्पताल में भरती करा आओ। बिचारे के चोट लग गई है। मेरा नाम लेना डाक्टर साहब से। जो कुछ खर्च लगेगा, मैं दूँगा। जल्दी लौटना, फौरन ही, ठीक यहीं पर मिलेंगे।

ड्राइवर—(साभी से) चलो, उठो।

साभी—(दर्द जाहिर कर) ऊँ ऽऽ, नाहीं चला जात भैया!

टांकिस—मैं उठा देता हूँ। एक हाथ तुम पकड़ो ड्राइवर! आप मेरी बन्दूक सँभालिए। (अपनी बन्दूक प्रमोद को देता है।)

(दोनों उठाकर साभी को ले जाते हैं।)

प्रमोद—धीरज से।

साभी की औरत—(लड़की को गोद में पकड़े, गठरी उठाकर जाने लगती है।)

प्रमोद—यह कम्बल यहाँ रह गया, उठा ले जाओ।

साभी की स्त्री—(जाते-जाते) फाटि गवा। चीथर के ढोई?

(नेपथ्य में साभी का कुटुम्ब मोटर में बैठता है।)

ड्राइवर—(नेपथ्य में) तुम इधर बैठो। (मोटर का द्वार बन्द करता है।)

(नेपथ्य में मोटर स्टार्ट होकर जाती है।)

प्रमोद—अच्छी चपत पड़ी यह।

(टांकिस आता है।)

टांकिस—लाओ मेरी बन्दूक। (प्रमोद के हाथ से बन्दूक लेता है। यह कम्बल यहीं भूल गये।)

प्रमोद—नये की आशा में।

टांकिस—खाली हाथ लौट जाना ठीक नहीं समझ पड़ता, चलो ड्राइवर के लौटने तक नहर तक हो आवें।

प्रमोद—आज ठीक घड़ी नहीं है। फाँसी के फंदे से तो अभी-अभी बड़ी मुश्किल से छूटे हैं।

टांकिस—बड़े डरपोक हो तुम। बन्दूक क्यों खरीदी थी? सिर्फ दस मिनट के लिए चलना पड़ेगा। जबर्दस्ती। (उसका हाथ पकड़कर उसे ले जाना चाहता है। अचानक दाहिनी ओर पत्तों की खड़खड़ाहट सुनकर) वह सुनो, है न शिकार!

प्रमोद—बिना देखे गोली न छोड़ूँगा। सौ रुपये इस नसीहत की अभी नकद कीमत चुकाई है।

टांकिस—कहता कौन है? लेकिन चलो तो सही, देख लेना।

प्रमोद—हाथ छोड़ दो। खुद चलता हूँ।

(दोनों का बढ़ना।)

प्रमोद—किधर?

टांकिस—इसी साल के पेड़ की बगल में। ठीक नाक की सीध में।

प्रमोद—वह तो आदमी है, दौड़ता हुआ इधर ही को आ रहा है।

टांकिस—इसी की ग्राहट सुनी होगी। चलो वहीं; कुछ नहीं है यहाँ।

(दोनों पहले स्थान पर ग्राते हैं।)

प्रमोद—(सिगरेटकेस खोल, सिगरेट निकालकर टांकिस की ग्रोर बढ़ाता है।) लो सिगरेट पी लो।

(दियासलाई रगड़ दोनों सिगरेट सुलगाकर पीने लगते हैं।)

टांकिस—मैं तो बैठ जाता हूँ यहाँ। (सूखी पत्तियों पर बैठ जाता है।)

प्रमोद—यह ग्रादमी तो इधर ही ग्रा रहा है।...... ग्ररे यह तो हमारा ही मुंशी है। (बिशन का ग्राना।) क्यों बिशन, खैर तो है? कैसे ग्राये?

बिशन—एक साझी भाग गया छोटे सरकार! २००) पेशगी लेकर। इस जंगल में उसके ग्राने का पता लगा है। उसी की खोज में हूँ। ग्रापके देखने में तो नहीं ग्राया?

प्रमोद—नहीं, हमारे देखने में—

टांकिस—प्रमोद! कहीं—(रुक जाता है ग्रौर ताली पीटकर जोर से हँसता है।) ह-ह-ह-ह! (उठ जाता है।)

बिशन—(साझी के भूले हुए कम्बल को देखकर) यह कम्बल! (कम्बल को उठा लेता है।) उसी का है। वह जरूर इधर ग्राया है। ग्रापने नहीं देखा? एक ग्रौरत ग्रौर गोद में एक बच्चा भी था उसके।

(नेपथ्य में दूर से हार्न देता हुग्रा मोटर ग्राकर पास में ठहरता है। उसका दरवाजा खुलता है।)

प्रमोद—मोटर ग्रा पहुँचा।

टांकिस—ग्राज का बड़ा दिन ऐसा ही गया।

बिशन—ग्रापने तो नहीं देखा उसे? यह कंबल उसी का है।

(ड्राइवर का ग्राना।)

प्रमोद—पहुँचा ग्राये ग्रस्पताल?

ड्राइवर—नहीं गया वह।

प्रमोद—क्यों?

ड्राइवर—कहने लगा ठीक हो गई चोट।

टांकिस—फिर किधर गया वह?

ड्राइवर—बोला रेलवे-स्टेशन पहुँचा दो। घर जाऊँगा।

प्रमोद—टिकट कहाँ का खरीदा?

ड्राइवर—मुझे नहीं मालूम। वह दौड़ा-दौड़ा खुद ही टिकटघर की ग्रोर चला गया था। रेल छूटने ही वाली थी।

प्रमोद—(हैरान होकर) वह खुद दौड़कर गया?

ड्राइवर—जी हाँ।

प्रमोद—उसके पैर की चोट?

ड्राइवर—मैं कुछ नहीं जानता।

टांकिस—उसके पैर की पट्टी?

ड्राइवर—सिर पर लपेट ली थी उसने।

प्रमोद—खून!

ड्राइवर—कहीं कुछ नहीं।

प्रमोद—(लम्बी साँस लेकर) ठगे गये!

टांकिस—इसमें भी क्या कोई शक है?

प्रमोद—पिता जी से कितना पेशगी ले गया था?

बिशन—दो सौ रुपये।

प्रमोद—सौ ये! पूरे तीन सौ हुए।

बिशन—सौ ग्रौर कौन से?

प्रमोद—कुछ नहीं बिशन, पिता जी से न कहना कुछ। चलो घर चलें।

(सबका मोटर में चढ़ना, मोटर के दरवाजों का बन्द होना। भोंपू देता हुग्रा मोटर जाता है।)

१९४२

* * *

मृत्यु से मुठभेड़

श्री महन्त धनराजपुरी

(१)

मैं उन दिनों दौरे में अपनी जमींदारी में गया था। जाड़े के दिन थे। एक दिन संध्या-समय मैं कचहरी के बरामदे में बैठा हुआ एक पुस्तक पढ़ रहा था। 'स्मृति' बहुत पीछे छूट चुकी थी। सहसा कुछ हलचल-सी मालूम होने के कारण मेरी तल्लीनता भंग हो गई! पुस्तक पर से आँखें उठाकर देखा—एक छरहरे डील-डौल का उन्नीस-बीस वर्षों का नवयुवक हाँफता हुआ सामने खड़ा है! वह मेरी गायों का चरवाहा था। मैंने आश्चर्य से उसकी ओर देखकर पूछा—"क्यों, क्या है सिहासन?" सिंहासन की साँस, अभी तक जोरों से चल रही थी। वह सहसा मेरे प्रश्न का उत्तर न दे सका। सम्भवतः बहुत दूर से दौड़ता हुआ आया था। जरा रुककर बोला—"अपने एक बाछे को बाघ ने पकड़ लिया है!"

बाघ का नाम सुनकर तड़प ही तो उठा! न जाने क्यों आपसे आप मेरी आँखें चमक उठीं! नसें फड़कीं और कुर्सी से उठकर खड़ा हो गया! देखा, मेरी कलाई की घड़ी में पाँच बजने को थे। हाय! हाय! शाम होने में तो कुल एक-आध मिनट की ही कसर रह गई है! मैंने एक ही साँस में प्रश्नों की झड़ी बाँध दी! कब बाछे को बाघ ने पकड़ा, कहाँ पकड़ा है, क्या तुमने अपनी आँखों उसे पकड़ते देखा आदि आदि। अब तक उस चरवाहे क हाँफना जरा कम हो चुका था। बोला—

"अपनी गायें हरिहरपुर के जंगल में चरा रहा था। अकस्मात् गायों में पड़ी हुई भगदड़ को देखकर कुछ शंका हुई और..........."

मुझमें इतनी शक्ति न थी कि मैं उसकी सारी कहानी सुनता। मैंने बात काटकर पूछा—कितने बजे की बात है?

"लगभग एक घंटा दिन बाकी रहा होगा।"

"फिर तुमने क्या किया?"

"मैंने एक पेड़ पर चढ़कर देखा कि बाछे की पीठ पर बाघ बैठा हुआ है और अपना मुँह जरा नीचे की ओर झुकाकर उसकी गर्दन में दाँत मार रहा है। बाछे का डकारना सुनकर......।"

मैंने फिर बात काटी। पूछा—तुमसे कितनी दूर पर बाघ था?

"लगभग सौ हाथ पर सरकार!"

"तब फिर क्या हुआ?"

सिंहासन कहने लगा—"जब बाछा गिरकर अपने चारों पैर इधर-उधर फेंकने लगा तब मैंने समझ लिया कि बाघ ने उसका गला काट दिया है। फिर मैं पेड़ से उतर आया और आपको तुरन्त खबर देना जरूरी समझकर एक ही साँस में दौड़ता हुआ आ रहा हूँ।"

चरवाहे की बातें सुनकर मैं तरह-तरह की चिन्ताओं में डूब गया। सिंहासन मुझे चुप देखकर भी अपनी बातें कहता ही रहा कि "किस तरह जरा-जरा -से पीले रोओं पर काले-काले गुल चमक रहे थे, बहुत ही असाधारण डील-डौल का शेर था, मैंने जंगल में बहुत-से शेर देखे हैं पर ऐसा छरहरा और मस्त शेर कभी नहीं देखा, पल-पल पर उसके कान असाधारण वेग से नीचे-ऊपर हो रहे थे, क्षण-क्षण पर उसकी नुकीली मूँछें इधर-उधर होने लगती थीं, उसकी आँखें तो इस तरह चमकती थीं; जैसे बिजली कौंधती हो।"

किन्तु मेरे सामने कुछ दूसरी ही समस्यायें थीं। जिस दिन शेर अपना शिकार पकड़ता है उस दिन खाली खून पीकर ही चला जाता है। लाश पर साधारणतः दूसरे दिन आता है। उस दिन कदाचित ही कभी आता हो। हाँ, इतनी-सी बात अवश्य है कि आखेट की जगह से लाश को जरा हटाकर रखता है। मेरे कैम्प से जंगल तीन मील पर था। उस रात में और कुछ होना सम्भव न देखकर दूसरे दिन लाश का निरीक्षण करने की बात सोची और नौकरों को

कितनी ही आज्ञायें देकर, शिकार के ऊपर से ध्यान हटा, जरा निश्चिन्त होने का मैंने उपक्रम किया। किन्तु शिकारियों के भाग्य में, शिकार की बू मिलने पर, निश्चिन्त होना नहीं लिखा रहता। भोजन करने के समय भी शिकार की ही चर्चा रही। सोने के लिए जाते जाते भी उसी का जिक्र होता रहा। नींद न आने तक मैंने उसी शेर की ही बातें सोचीं, और अब यह याद नहीं कि मैंने उस रात में शेर का सपना भी देखा था या नहीं!

(२)

हरिहरपुर के जंगल में मैंने बहुत बार शिकार किया है। उसके चप्पे-चप्पे से परिचित हूँ। वृक्षों की विरलता और मूंज का प्राचुर्य्य उसकी खास विशेषता है। सोमेश्वर की गोद से उछलती हुई कापन और मसान नाम की धारायें, सम्मिलित वेग से पहाड़ के जिस अंश को ठोकर मारती हैं उसका नाम ठोरी है। यदि सोमेश्वर अपने ही घर की पोसी-पाली, पर नितान्त ही उच्छृंखल, इन दोनों बहनों के मार्ग में अपनी एक बाहु न अड़ा देता तो ये भैरव-नादिनी नदियाँ हरिहरपुर के सारे जंगल को छलनी बनाकर उसका चिन्ह तक मिटा देतीं। अनन्तकाल से ठोरी का पहाड़ उनकी राह को संयत रखता आ रहा है। अँवरहिया, बनवारी और सँकरी के घने जंगलों ने हरिहरपुर के जंगल को तीन ओर से घेरकर भालुओं और शेरों की क्रीड़ा-भूमि बना दी है। मसान की बालुका-मय उज्ज्वल छाती पर निरन्तर अपने चरण-चिह्न छोड़ने वाले जंगल के इन प्रभुओं का गमनागमन उनकी प्रतिदिन की दिनचर्य्या में शामिल है।

हरिहरपुर में किसी प्राचीन राजा का एक गढ़ है। वह गढ़ 'हरिहरपुर-कोट' के नाम से प्रसिद्ध है। गढ़ की इमारतें अब भग्नावशेष नहीं, नष्ट-प्राय हैं। आजकल यह ध्वस्त गढ़ किसी मानव-राजा के अधिकार में नहीं, जंगल के प्रभुओं के कब्जे में है। वहाँ जाकर कुछ देखने के पहले हाथों में बन्दूक चाहिए और छाती के भीतर कलेजा! मेरे पास वहाँ की अनेक दुःखद और सुखद स्मृतियाँ हैं, जो आज भी दिल को गुदगुदा जाती हैं।

प्रातःकाल नींद के टूटते ही मुझे उसी चिर-परिचित हरिहरपुर की याद आई! झटपट प्रातः-कर्म्म समाप्त कर जलपान किया। पहले से ही हाथी कसा हुआ तैयार था। सिंहासन को पैदल आगे किया और दो आदमियों के साथ शेर के शिकार की जगह—हाँ! शेर के ही शिकार की जगह को रवाना हुआ! अभी अपने शिकार की कौन-सी बात थी! अभी तो शेर के शिकार का स्थान देखना था।

साढ़े नौ बजे घटना-स्थल पर पहुँचा। वनराज ने बाछे को मारने के लिए काफी जोर मारा था। तीस-चालीस हाथ घेरे की जमीन खुडदकर लहूलुहान हो उठी थी। जगह जगह मूँज पर खून के धब्बे थे। युद्ध-भूमि से लगभग आधे फर्लाङ्ग की दूरी पर एक सेमल के पेड़ के ठीक नीचे बाछे की लाश पड़ी मिली। इस सुखद उपादेय और विचित्र संयोग की बात देखकर मेरी आँखें चमक उठीं। प्रायः शिकारियों के भाग्य-दोष से ऐसी घटनाप्रद लाशें पेड़ों से दूर पाई जाती हैं। ऐसे अवसरों पर, लाश के आसपास एक भी वृक्ष न देखने के बाद, अपने सारे मनोरथों को विफल होते देख, शिकारियों की होने वाली छटपटाहट देखने की चीज होती है। और यहाँ हरिहरपुर में तो वृक्षों की विरलता और भी खटकने वाली है। फिर इस नितान्त प्रतिकूल परिस्थिति में भी दैव-संयोग से ठीक पेड़ के नीचे लाश को देखकर अगर मेरी छाती फूल उठी तो इसमें अस्वाभाविकता क्या थी? ऐसे मनोवांछित सांयोगिक सुअवसर पर किस शिकारी की छाती फूल न उठेगी? बाछे के सींगों की स्वाभाविक फटी हुई दरारों में शेर के दो-चार बाल, सूरज की तेज रोशनी में चम-चम चमक रहे थे। बाछे ने आत्म-रक्षा की पूरी कोशिश की थी। प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के असीम बल-पौरुष के सामने उसने अनायास ही घुटने नहीं टेके थे! सींगों की दरारों में चमकने-वाले पीले-पीले बाल इस बात के प्रबल प्रमाण थे कि उसने अवसर पाते ही जोर की ठोकर मारकर अपने नुकीले और पतले सींग शेर के पेट में घुसेड़ देने की भीषण चेष्टा की थी! और इसमें भी किसी शंका की कोई गुंजाइश नहीं कि यदि बाछे को ऐसे दो-चार अवसर मिले होंगे तो अपनी क्षुधा-पूर्त्ति के निमित्त किये जाने वाले उस महाप्रयास में शेर को भी काफी मूल्य चुकाना पड़ा होगा।

सेमल के पेड़ 'ठाँठी' बाँधने के लिए कुछ विशेष उपयुक्त नहीं होते। न केवल उनकी डालें ही बेढंगी होती हैं, प्रत्युत उनमें सघन पत्तियों का अभाव भी होता है। फिर शेर का शिकार! बोलना मना, हिलना-डुलना मना,

खाँसना-खखारना मना ! निस्स्पन्द, निःशब्द, निश्चल पत्थर की मूर्त्ति की तरह चुपचाप बैठना ! ऐसी अवस्था में सेमल की डालों में उगे हुए छोटे और तेज काँटे जब बे-वक्त शिकारियों की देह में चुभ जाते हैं तब बिना श्रोह-श्राह किये ही निर्विकार की तरह चुपचाप बैठे रह जाना एक ऐसी समस्या है जिसे ठीक-ठीक भुक्त-भोगी ही जानता है। केवल दो ही डालें ऐसी थीं जिनके सम्मिलित आधार पर ठाँठी बाँधी जा सकती थी। फिर सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि ठाँठी एकदम लाश के ऊपर पड़ती थी। न एक इंच इधर, न एक इंच उधर ! एकदम नीचे नली करके शेर पर गोली चलाने में बहुत बड़ी बाधा पड़ सकती थी। किन्तु उपाय क्या था ? उन्हीं डालों के सहारे चार-पाँच लकड़ियाँ रखकर ठाँठी बाँधी गई। किसी कदर मेरे बैठ सकने के लायक जगह बनी। अन्य पेड़ों की सघन पत्तोंवाली डालियाँ तोड़कर और उन्हें खोंस-बाँधकर ठाँठी के चारों ओर एक हलकी-सी आड़ भी बना दी गई। रण-दुर्ग तैयार हो जाने के बाद अनुभवी सेनानी की तरह मैंने उसका आलोचनापूर्ण ढंग से निरीक्षण किया। बनाने वाले इंजीनियरों को कुछ छोटी-मोटी हिदायतें देकर भावी संग्राम की आह्लाद-प्रद विवेचना करता हुआ डेरे पर लौटा। किन्तु उस समय किसे पता था कि नियति-नटी अन्तरिक्ष की ओट में खड़ी मेरी हर्ष-भरी मुद्रा पर मुस्करा रही है।

(३)

भुवन-भास्कर अस्ताचल की ओर जा रहे थे। सन्ध्या की अँधेरी, अभी घने वन्य वृक्षों के तले नववधू की भाँति सिमटी-सी खड़ी थी। प्रतीक्षा के बीच में आकस्मिक रूप से आ फटने वाली विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करने की यथासाध्य मैंने कोशिश कर ली थी। बहुत ही कम खाया था और पानी पीने से तो मैंने बिलकुल ही परहेज किया था। मेरे कपड़े भी एकदम चुस्त थे। हाथ में चिर-परिचित बारह बार की दुनाली लिये हुए संध्या से थोड़ा पहले ठाँठी के पास पहुँचा। ठाँठी के चारों ओर मूँज के झुरमुट में सैकड़ों गाय-बैलों के झुंड चर रहे थे। उनके गले में बँधी हुई घंटियों की टन्-टन् दूर-दूर तक सुनाई पड़ रही थी। यह सारा उपक्रम वनराज को धोखा देने के लिए किया गया था। हाथी की पीठ से उचककर मैं ठाँठी पर जा बैठा। खाँस-खखार लिया और गोद में अपनी बन्दूक जमाकर आसपास के झुरमुटों से परिचय बढ़ाने के लिए चारों ओर दृष्टि दौड़ाने लगा।

धीरे-धीरे घंटी टनटनाते हुए गाय-बैलों के झुंड घर की ओर चले गये। धीरे-धीरे संध्या की अँधेरी भी वन्य वृक्षों के तले से निकलकर बाहर झाँकने लगी। धीरे-धीरे सभी ओर से दृष्टि हटाकर मैंने अपनी दृष्टि उस लाश पर ही गड़ा दी। धीरे-धीरे अन्धकार का रूप निखरा। धीरे-धीरे सभी दृश्यों का रूप अपरूप होकर अन्धकार के ही अनुरूप होने लगा। धीरे-धीरे सभी दृश्य अन्धकार में डूब गये।

उस समय वहाँ हम तीन ही थे। ठाँठी पर मैं था, पेड़ के नीचे लाश थी और हम दोनों के अतिरिक्त कई घंटों का हमारा साथी बेचारा अन्धकार था ! न जाने अँधेरी किसकी प्रतीक्षा में थी ? किन्तु लाश बेचारी तो अवश्य ही अपने भक्षक की प्रतीक्षा में रही होगी ! मैं भी बन्दूक की दोनों नलियों में कारतूस के अर्घ्य-उपादान डाले, हृदय में स्पन्दन-धड़कन लिये, अपने आराध्य देव के स्वागत-सत्कार का पूरा आयोजन किये एक आसन पर डटा हुआ प्रतीक्षा में तल्लीन था। उबा देने वाली प्रतीक्षा चलने लगी। यह कोई प्रेमी और प्रेमिका की प्रतीक्षा न थी। यह तो घोर अन्धकार और हिंसक जन्तुओं से भरे जंगल में ठाँठी पर एकाकी बैठे हुए शिकारी की प्रतीक्षा थी। सूखे पत्तों की जरा-सी चरचराहट होते ही आँखें फाड़ बैठता। उँगलियाँ सावधानी से बन्दूक की लबलबी पर चिपट जातीं और हृदय की धड़कन तेज हो जाती। भला किस प्रेमी ने ऐसी सावधानी से अपनी प्रेमिका की प्रतीक्षा की होगी या किस योगी ने ही अपने आराध्य देव की ऐसी भक्ति-भावना से आराधना की है ?

एक उल्लू ने ठीक मेरे सिर के ऊपर आकर अपनी कर्कश बोली में बोलना शुरू किया। उसका बोलना बहुत बुरा लगने लगा। अब इस आकस्मिक विपत्ति से अपनी रक्षा क्योंकर की जाय ? मैंने उसकी आवाज अनसुनी करने की ठानी और अपना गुस्सा ठंडा करने लगा। मेरा क्रोध अभी पूर्ण रूप से शान्त भी न हो पाया था कि नीचे की लाश में हरकत की आहट पाकर मेरी देह में सनसनी-सी दौड़ गई।

पता नहीं, बाघ किधर से आया। मेरे जानते तो किसी तरफ कोई आहट नहीं हुई। मैंने आँखें फाड़-फाड़कर

देखने की कोशिश की। ठीक ठाँठी के नीचे लाश होने की वजह से बिना कुछ आगे की ओर झुके कुछ भी देख सकना सम्भव न था। आसन बदलने के कारण अनायास ही हो उठने वाली चरचराहट से डरा और सहमा हुआ बड़ी सावधानी से नीचे की ओर देखने लगा। किन्तु उस घोर अन्धकार में हजार चेष्टा करने पर भी कुछ सूझता न था। हाँ, हड्डियों के टूटने से होने-वाली तड़ाक-भड़ाक के साथ-साथ लगभग एक-एक फुट के फासले पर दो प्रज्वलित अग्नि-शिखायें रह-रहकर चमक उठती थीं। यह जान लेने में जरा भी देर न लगी कि वे हमारे आराध्य वनराज की अन्धकारभेदिनी आँखें हैं।

एक विकट समस्या उपस्थित थी। जब कुछ सूझता ही नहीं तब फायर किस पर किया जाय! उत्सुकता का बार-बार तकाजा हो रहा था कि अन्दाज पर ही फायर कर दिया जाय। सम्भव है, संयोगवश सफलता मिल जाय। किन्तु अनुभव इसका घोर विरोधी था। बात सच भी थी। बिना कुछ देखे और निशाना बाँधे यों ही अन्दाज पर गोली चलाना पल्ले सिरे की मूर्खता थी। मेरे पास ग्राफ के कारतूस भी न थे। फिर यों ही गोली बरबाद करने से क्या फायदा! दम साधे चुपचाप ठाँठी पर बैठा रहा।

किन्तु मेरी तड़प—उत्सुकता दम साधकर चुपचाप बैठने वाली न थी। वह तड़पकर प्रश्न पर प्रश्न करती ही जा रही थी। अन्दाज पर गोली नहीं मारनी थी तो आप आये ही क्यों? किसलिए ठाँठी बँधवाई? फिर इतनी मुसीबत उठाकर ठाँठी पर बैठने का ही क्या मतलब था? क्या मालूम न था कि अँधेरी रात है? अँधेरे में कुछ सूझता नहीं? जाड़े में, जंगल में, रात में, क्या चुपचाप ठाँठी पर बैठने के लिए ही आये थे? अगर अन्दाज पर गोली मारने से केवल असफलता की ही आशा है तो चुपचाप ठाँठी पर बैठे-बैठे रात बिता देने से ही कहाँ सफलता पैर चूमने के लिए दौड़ती हुई आ जाने वाली है? जब प्रत्येक ओर निराशा ही निराशा है तब क्यों न एक बार भाग्य पर भरोसा करके छोटा-मोटा प्रयास ही कर लिया जाय? यदि असफलता ही आने वाली है तो वह प्रयत्न के बाद आवे, कुछ तो संतोष होगा।

उत्सुकता के सामने सिर झुका दिया। अनुभव को काठ मार गया और अक्ल चरने चली गई! यह भूल गया कि अनुकूल परिस्थिति के साथ कदम उठाना शिकारी का प्रधान गुण है। सेफ्टी को धीरे से चढ़ाकर दोनों लबलबियों पर दो उँगलियाँ चिपका दीं, जिससे बिना रुके ही, धायँ-धायँ दो फायर कर सकूँ। देखने के लिए कुछ तो ठाँठी से आगे की ओर झुका ही था, अब निशाना बाँधने, छाती से कुन्दे को सटाने और हाथ के सहारे ठीक सीध में नाल-को रखने के लिए थोड़ा और आगे की ओर झुकना पड़ा। थोड़ी देर तक अन्दाज करने के बाद मैंने दाहनी नली की लबलबी खींच दी। बन्दूक के धक्के से कुछ पीछे-आगे झुका और धायँ की आवाज के साथ-साथ अपना बोझ सँभाल न सकने के कारण मैं ठाँठी से नीचे की ओर लुढ़क गया!

इतना याद है कि मैं मुँह के बल गिरा। इतना यह भी याद है कि कोई बहुत ही नरम रोएँदार गुदगुदी चीज मेरी छाती के नीचे पड़ी थी और मैं उसे अपनी दोनों बाँहों से पकड़ रखना चाहता था। इतना और भी याद है कि वह मखमल जैसी नरम गुदगुदी चीज मेरी छाती के नीचे से छलाँग मारकर एकदम उछल गई थी। हाँ, इतना यह भी याद है कि छलाँग मारने के पहले उस मुलायम गुदगुदी चीज ने भयंकर गुर्राहट की आवाज भी की थी! उसके बाद तो शायद संज्ञा-हीनता थी, और सो भी न जाने कब तक!

होश में आने पर मैंने अपने को आदमियों से घिरा हुआ पाया। लालटेन का तीखा प्रकाश हो रहा था। कुशल इतना ही हुआ था कि संकेत-सीटी की प्रतीक्षा में घटनास्थल से कुछ दूर पर खड़े मेरे आदमियों ने जरा अक्ल से काम लिया।

दिल दहलाने वाली तीन-तीन—बन्दूक की, धमाके की, और भीषण गुर्राहट की सम्मिलित आवाजों से आकृष्ट होकर वे संकेत-सीटी की जरा भी प्रतीक्षा न करते हुए घटनास्थल पर आ धमके। हाँ! सबसे बड़ी खैरियत यह तो थी ही कि मेरा निशाना चूक गया था। गोली सेमल की जड़ से जा लगी थी। अगर जरा भी बाघ घायल हो गया होता तो मेरी बोटी-बोटी नोचकर रख देता!

एक पराजित सेनापति की भाँति जिसने मूर्खतावश अपनी सारी फौज कटाकर माथे पर न मिटने वाली लांछना और कलंक का टीका लगा लिया हो मैं घर की ओर लौटा! कहीं मुँह दिखाते शर्म मालूम होती थी।

किन्तु उस दिन मुझे तसल्ली हुई और सोचा पूरी तरह। सारी कहानी सुन लेने के बाद मेरे एक आदरणीय मित्र ने मुस्करा कर कहा--

"महाशय ठाँठी से गिरते-पड़ते भी बाघ की सवारी गाँठ बैठना कभी पराजय नहीं कही जा सकती! वह तो थी मृत्यु से मुठभेड़! आप एक अनुपम शिकारी हैं!"

भला मैं इसका क्या उत्तर देता?

१९४२

* * *

पेशावर-एक्सप्रेस

श्रीयुत 'उग्र'

इंग्लैंड के कैन्टरबरी के महापादरी का जो स्थान और महत्त्व विलायत में है, मैं कहूँगा वही स्थान और महत्त्व मालवा में ज्योतिषाचार्य पंडित सूर्यनारायण व्यास का होना चाहिए। कैन्टरबरी का महापादरी धार्मिक पदाधिकारी होते हुए भी योग्य राजनीतिक चिन्तक और साहित्यिक व्यक्ति है। वैसे ही धर्म, भाग्य, संस्कृति और कर्म में लिपटे रहने पर भी हमारे व्यास जी चतुरंगी व्यक्तित्ववान् हैं। वही आजकल मध्य-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हैं, मालवा-निवासी होने के कारण जिसकी यथाशक्ति सेवा करना मैं अपना शुद्ध कर्त्तव्य समझता हूँ।

उज्जैन के विख्यात प्रतिभाशाली वकील श्री गो० पं० हिरवे जी को भी मैं ग्वालियर-राज का उगता हुआ चर्चिल कहना चाहता हूँ; वे चर्चिल जिसके उग्र आरम्भ को देख विलायत वाले उसे 'इन्फैन्ट टेरिबल' पुकारने लगे थे। यानी भयानक राजनीतिक शिशु! ऐसे मिस्टर हिरवे के साथ व्यास विशालबुद्धि के आज्ञार्थ मैं ग्वालियर-राज में अ० भा० हिं० सा० सम्मेलन का प्रचारादि करने गत १४ जनवरी को सवेरे उज्जैन से निकला।

उज्जैन और भोपाल के बीच में वैरागढ़ नामक स्टेशन की भी एक कहानी कभी कहूँगा जो भोपाल से एक स्टेशन पहले पड़ता है। भोपाल खुद पर दर्जनों कहानियाँ मेरे मन में एक ही दर्शन में जागीं, लेकिन अभी तो मैं 'करौंदा' नामक एक मामूली स्टेशन की बात बतलाना चाहता हूँ।

भोपाल से गाड़ी बदलकर हम ग्वालियर के लिए कोई ३॥ बजे रवाना हुए, लेकिन सात-सवा सात बजे रात बीना से एक स्टेशन पूर्व करौंदा में असिल प्लेटफार्म से कोई हजार-डेढ़ हजार गज दूरी पर हमारी ट्रेन, यानी 'पेशावर-एक्सप्रेस' अचानक खड़ी हो गई। हम थर्ड क्लास में थे; मिस्टर हिरवे निचले बर्थ पर थे--भोपाल देखने के बाद बीमार-से थके, तनिक बुखार से हैरान! मैं था ऊपरी बर्थ पर। मेरे पास सर्दी के लबादे कम थे और सर्दी बहुत अधिक। आखिर माघ का महीना। अतः ऊपरी बर्थ पर ही अपनी मुफलिसी की इज्जत बचती देख मैंने आसन लगाना मुनासिब समझा। उज्जैन से चलते वक्त जब हिरवे जी ने लश्कर की सर्दी की कठोरता की चर्चा की तब उनकी बातों का महत्त्व मजे में न समझ मैंने दार्शनिकता दिखलाई थी यह कहकर कि--"मेरे पास तो गत ४ वर्षों से दो कम्बल और एक कोट हैं; ये काफी हों या नाकाफी; लश्कर की सर्दी को इन्हीं से हरारत हासिल करनी होगी।" लेकिन ट्रेन के 'करौंदा' पहुँचते न पहुँचते उक्त दार्शनिकता बहुत ठंडी लगने लगी।

मेरे सामने के ऊपरी बर्थों पर अकसर सामान रक्खा था और आदमी एक-आध थे भी तो सर्दी से कसकर सिकुड़कर सीधे। जाग्रत-भाव नहीं तो अभाव ही से सही--एक मैं था--उच्चासीन (भंग के नशे से) आत्मलीन! और नीचे की सीटों पर अजब नज्जारा बिखरा हुआ था; देखने लायक़ और जो देख न पाये उसके सुनने क़ाबिल।

रेल के डिब्बे में सीटें तीन क़तार में डबल और मेरी दाहनी ओर दरवाजे के पास एक छोटी सीट थी जिस

पर दिल्ली जाने वाले दो मुस्लिम भाई बैठे एक अधेड़ दूसरा मोटा नौजवान सूर्यमुखी के फूल-सा खिला-खुला बड़ा मुखड़ा। उनके साथ एक नौकरनुमा आदमी भी था जो ठीक मेरी सीट के नीचे बैठा बीड़ी पी रहा था। दोनों पंजाबी भाई जाड़े की गर्म पोशाक से कसे थे और बड़ा भाई सिगरेट भी पी रहा था। पंजाबियों के नौकर के अलावा मेरी सीट के नीचे एक जवान गरीब मुसलमान और था जो अपने छोटे भाई के साथ रावलपिंडी जा रहा था, लेकिन ये दोनों भाई पहले दोनों भाइयों से कहीं मुफ़लिस थे। छोटा भाई तो उम्र में भी बारह साल से ज्यादा का नहीं था जो बीच की बेंच पर मेरे सामने ही देहाती नये कुत्ते की तरह चुलबुला रहा था। वकील हिरवे बीच की बेंच के उत्तरी खण्ड पर अपना 'होल्डाल' फैलाये अस्वस्थ फैले थे और उनके पाँव की तरफ एक बूढ़े, विलायती वेशी देशी बैरिस्टर का बिस्तर बिछा था याने दो वकील-बैरिस्टरों ने एक पूरी बेंच पर अपने दबदबे और ठाट-बाट या मुवक्किलों के बल पर क़ब्जा कर रक्खा था। रावलपिंडी वाले छोकरे के सिर पर क्लेक्स फूट और फ्लेनल के पेन्ट का कोर सटाये एक तीसरे नये वकील भी जो बैरिस्टर के शायद रिश्तेदार थे, चित पसरे हुए थे। उनके सिर पर एक बूढ़ा सिख जो गश्ती खुफिया-सा मालूम पड़ता था, सर्दी से सिकुड़कर बैठा था; लेकिन उसी के सामने दूसरे दो सरदार तगड़े और मोटे कपड़े से गर्म बड़ी-बड़ी बातें मार रहे थे। मेरे सामने की आखिरी बेंच एजेण्टनुमा एक लम्बे पंजाबी और नाटे-मोटे अंगोंवाले जवान भोपाली मुसलमान ने घेर रक्खी थी।

बोगी—डिब्बा—बड़ी थी, मगर इतने बड़े आदमियों के योग्य कदापि नहीं जितने वे बैरिस्टर साहब थे या ये वकील मिस्टर हिरवे। बैरिस्टर और उनका साथी जवान वकील तो देखते ही स्टेशन-ट्रेन के पैसेंजर मालूम पड़ते थे। सूट, सूटकेस, थर्मास, दो-दो होल्डाल, दो-दो बड़े-बड़े चमड़े के बाक्स, बैग—बैरिस्टर साहब के काँपते पंजे में पालिश छड़ी, मुँह में निरन्तर धुआँधार सिगरेट; शायद आँत और दाँत के रोग हो जाने पर भी!

वकील हिरवे के साथ मैं और एक उनका आत्मीय लेकिन वृद्ध लेकिन चुस्त मुवक्किल; जो जवान वकील की खिदमत भी करता था—हिरवे का मुँह यों ताका करता था जैसे मजनू लैला का। हिरवे साहब ने खूब ही गर्म कपड़े पहने थे यद्यपि आपकी पोशिस स्वदेशी थी—मोटा लंबा कोट, फिर देशी ऊन का लबादा, फिर ऊनी कण्टोप, फिर ऊनी मफ़लर, फिर बढ़िया नरम गरम-टूश, फिर मोटा तगड़ा कंबल!

उसी तरह विलायती अच्छे ऊनी कपड़ों की एक खासी दूकान बैरिस्टर साहब और उनके निजी नौजवान वकील के तन पर कसी हुई थी। मुझे याद है, नौजवान वकील ने जो डिब्बे में, भोपाल में, घुसते ही पहले गर्म कपड़े उतार फेंकने शुरू किये थे—"क्या अनाप-शनाप मैंने भी हिफ़ाजत के लिहाज से लाद लिया......!" कहकर मेरा खयाल है कपड़ों का जो बोझ दो पाँवों पर उक्त सज्जन उठाये हुए थे बोझा ढोनेवाला मशहूर वह चौपाया अपने चार पाँवों पर भी मुश्किलन उतना भार सँभाल पाता!

और कपड़े ट्रेन में सबसे कम थे तीन व्यक्तियों के पास, जिनमें दो स्त्रियाँ थीं और तीसरा स्वयं इंजानिब! एक स्त्री सिख तरुणी थी—पंजाबी रेशमी सलवार, कमीज-नुमा कुर्ती और बूटेदार ओढ़नी में लिपटी हुई—दूसरी कोई ग़रीब मालवी मजूर की स्त्री थी जो सूती धोती पर पीली रंगी सूती ही साटी से सजी श्यामा दिखती थी। औरत के साथ जब वह धूसर या धमधूसर सिख गाड़ी में दाखिल हुआ, सारी सीटें भरी नहीं, घिरी थीं। मगर उसने तो टिकट खरीदा था—एजेन्टनुमा पंजाबी के बिस्तर को सिर की तरफ से कोई डेढ़ फुट जवान खिसका कर अपनी स्त्री के लिए काफी जगह पर कब्जा किया फिर अपने वास्ते बूढ़े बैरिस्टर पर चढ़ाई कर उनके 'टिण्डाल' को भी सिरे की तरफ से कोई डेढ़ फुट पीछे ठेल कर वह सूती खेस बिछाकर जम गया!

मगर बेचारे तन और मन से दुर्बल मालवी मजूरे में वह पुरुषार्थ न था कि वकील-बैरिस्टरों के सिरों को सिकोड़-कर अपने या अपने परिवार के लिए स्थान प्राप्त करता या अपने खरीदे हुए टिकट का महत्त्व समझ-समझा सकता। अतः बँधे बिस्तर पर स्त्री को उसने पाखाने और बैरिस्टर के सिरहाने सिकुड़ कर सोये धमधूसर सिख के पाताने के पास बैठाया—खुद वह खिड़की से सटा खड़ा ही यात्रा करता रहा!

उधर धमधूसर सिख ने मौका पाते ही प्रतिक्षण बैरिस्टर साहब के बिस्तर को पीछे ठेलना शुरू किया। उनके खाने के लिए उठने पर आधा फुट सरकाया, पेशाब जाने पर एक फुट और साथ ही बैरिस्टर का अनवरत सिगरेट पीना भी उसने चन्द युक्तियों से बन्द करा दिया। पाखाने के पास मालवी मजूरे को बीड़ी पीते देख उसने रोका—"अरे, धुआँ बन्द करो।" इस पर दूसरे सिखों ने भी धमधूसर का साथ दिया। फलतः खाना खाने के बाद अपनी सीट से हट, खिड़की से मुँह निकाल कर बुढ़े बैरिस्टर ने सिगरेट के धुएँ को धमधूसर की आँखों से बचाया। मगर पुनः आसन पर लौटने पर उन्हें मालूम पड़ा कि किसी ने उनके बिस्तर को सिकोड़कर आधा कर दिया है—

"यह है नाजायज कब्जा।" उन्होंने वकील हिरवे की ओर करुण दृष्टि से देखकर कहा।

"मगर, क्या मैंने आपकी जगह पर कब्जा किया है?" स्थान देने को तैयार हिरवे जी ने पूछा। इस पर बैरिस्टर के साथी नौजवान कानूनदाँ ने कहा—

"जगह तो ये सरदार जी दखल करते जा रहे हैं।" मगर पहले फासिस्टों की तरह सारी जमीन पर फैलनेवाले बैरिस्टर एक तगड़े प्रतिद्वन्द्वी को देखकर एकाएक 'डिमोक्रेट' बन उठे—

"अजी" उन्होंने अपने साथी जवान को समझाया लाचारी से—"सोने दो सरदार को—आखिर आराम सभी चाहते हैं।"

वकील हिरवे श्री जमुनालाल जी बजाज और महात्मा गाँधी के बहुत निकट बरसों रह चुके हैं; उन्होंने भी एक इंच भी सरके बिना पड़े ही पड़े राय दी कि—"महात्मा जी तो थर्ड क्लास में अपने साथियों को हर्गिज सोने नहीं देते, कहते हैं कि सोने का भाड़ा थर्ड क्लास में नहीं दिया जाता, महज बैठने की जगह घेरनी चाहिए।"

करौंदा स्टेशन के निकट ट्रेन के रुकने के पहले उक्त बातें समाप्त हो चुकी थीं; हवा बरफ की तरफ ठंडी और अन्धड़ की तरह तेज सनक रही थी, चुपचाप सिकुड़ कर बैठने या लेटने के अलावा बात तक करने में सर्दी लगती थी। तारीख १४ जनवरी १९४२ की ८ बजे रात करौंदा स्टेशन पर का ठण्ड रूसी मैदान के ठंड का भाई बना हुआ था, जिसके सामने लड़ना भूल, बड़े-बड़े लड़ाके सिकुड़कर पड़े रहने या भागने में ही जान की खैर मानते।

ट्रेन जब आध घंटे तक वहाँ से न हटी न हिली, और हवा की सनक में दौड़ते बादल के पसीने की बूँदें टपकने लगीं तब घबड़ाकर एक ने किसी से भी न पूछकर सवाल पूछा—

"मामला क्या है? साढ़े ९ बजे इसे झाँसी पहुँचना था सो साढ़े आठ तो यहीं बजे जा रहे हैं।"

मुझे मालूम था कि गवालियर स्टेशन पर गाड़ी ११ बजे पहुँचनेवाली थी, मगर ऐसी ऋतु में, कम कपड़ों से गवालियर में सिकुड़ने में मन ही मन मेरा मन सिकुड़ने लगा। मैंने सोचा, अगर यह गाड़ी इतनी लेट हो सके कि गवालियर सुबह पहुँचे तो अपरिचित सर्दी के ताप से मैं बच जाऊँ, साथ ही बचूँ वकील हिरवे का कोई ऊनी कपड़ा उधार लेने से, अतः बिना किसी से कहे मैंने भी सबसे कहा—

"मैं तो पहली बार गवालियर रात में नहीं देखना चाहता, अतः खुदा से मिन्नत करता हूँ कि वह इस गाड़ी को कम से कम चार घंटे लेट गवालियर पहुँचावे।" इसपर पहली बार बैरिस्टर साहब मेरी तरफ मुखातिब हुए—

"खुदा है?"

"इस वक्त किस बलन्दी पर मैं बैठा हूँ।" ऊपरी सीट से मैंने मजाक किया—"वहाँ से अपने को खुदा ही महसूस कर रहा हूँ, दुनिया के आप लोग नीचे प्राणी मुझे नज़र आ रहे हैं।" फिर अनेक मुसलमान दोस्तों की दिलशिकनी न हो इसलिए यह जोड़ा—"गो कि अपने को खुदा कहना मुसलमान कुफ्र मानता है; मगर हम हिन्दू तो हर एक जीव को उसी परमात्मा का प्रतिरूप मानते हैं...।"

"तो क्या परमात्मा हमारी प्रार्थनायें सुनकर उनपर माक़ूल तवज्जो देता है?" पंजाबी एजेन्टनुमा व्यक्ति ने मुस्कराकर पूछा। मैंने जवाब दिया—

"ईश्वर प्रार्थना पर फल देता तो जरूर है, मगर अक्सर घोड़ा माँगने पर गधा।"

इस पर ट्रेन में खासा कहकहा लगा और नीचे की कई नजरें मुझ पर इस अदा से पलक पंख मार कर झपटीं मानो

कहेंगी कि—"कपड़े कम होने पर भी अक्ल शायद तुझमें बहुत है।" धमधूसर सिख ने भी ओढ़ने से मुँह निकाल मुझे तरेर कर ताका, जिसकी तरुणी पत्नी बार बार मेरे चेहरे, लंबे बाल, बड़ी दाढ़ी में साधुत्व तलाश रही थी और मैं उसकी नजरों में दुष्टता—मगर वह दुष्ट नहीं थी और न मैं था साधु। लेकिन मालवीय मजूरे या उसकी पत्नी पर मेरी बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मर्द खिड़की के बाहर मुँह किये चिल्ला रहा था—"वीना की तरफ से गाड़ी आ रही है। उसके निकल जाने पर यह खुलेगी।" और औरत बिस्तरे पर गट्ठर का सहारा किये ऊँघ रही थी। मुझे ताकने के बाद सोने की चेष्टा में धमधूसर ने अबके जो पाँव असावधानी से पसारा तो ऊँघती मालवीया के मुँह पर उसके दोनों पंजे! हाथ से सिख के पाँवों को ठेलती हुई मजूर-पत्नी भनककर बोली—"कैसा आदमी!"

आठ, नौ, दस, ग्यारह के बाद लो! बारह बजने को आये मगर ट्रेन अंगद के पाँव की तरह अचल बनी रही। अभी तो लोग सर्दी, रात और परदेश से परेशान थे, अब पानी भी झड़ने लगा—झड़ाझड़! और ऐसी झड़ में मेरे नीचे मैली रजाई में लिपटा लेटा रावलपिंडी जानेवाला मुसलमान प्यासा—थोड़े ही पहले उसने रोटी खाई थी, उस छोटे भाई के साथ जिसे टट्टी लग रही थी। इसपर बड़े भाई ने छोटे से कहा—"पाखाने में पानी नहीं है। जाना है तो पहले जाकर स्टेशन के नल से बँधना भरता आ!" और अँधेरी रात झड़झड़ाते पानी में टट्टी से हैरान वह बालक हवा में तागे की तरह काँपता बँधना भर लाया। अब बँधने के साथ उसे टट्टी में घुसते देख खुफियामुखी सिख ने बतलाया कि पाखाने में पानी तो पुष्कल है—बँधने की जरूरत? तब तक बालक के बड़े भाई ने उससे बँधना छीन लिया—"अबे साले पानी तो टट्टी में है, ला इसे मुझे दे।" "अपनी प्यास की खातिर तुमने मुझे परीशान कर मारा।" रोआँसा बालक टट्टी में घुसा। जो जागते थे, सभी इस घटना पर जी खोलकर हँस पड़े!

बारह बजे, एक और दो भी। व्याकुल यात्रियों के समूह घड़ियों में टिकटिका गये, मगर गाड़ी न हिली न डुली।

"कहीं कोई 'एक्सिडेन्ट हो गया क्या?" एक ने सोते से चौंककर बिना किसी से पूछे सबसे पूछा।

"मिलिट्री गाड़ियों के लिए शायद यह एक्सप्रेस रोकी गई है। वे निकल जायँगी तब यह चलेगी।" धमधूसर जी ने कंबल से दाढ़ीदार चेहरा निकालकर राय दी।

"बम्बई से ही", रावलपिंडी जानेवाले मुसलमान ने राय दी—"गाड़ी साली के बारह बज रहे हैं। देखें खुदा कब घर पहुँचाता है।"

"मेरे कई दोस्त" भोपाली मुसलमान बोला—"इस शैतानी मौसम में झाँसी स्टेशन पर कड़कड़ा रहे होंगे—तोबा!"

घूमते खुफ़िया ने कहा—"कहीं जापान का गजब गोला न गिर पड़ा हो!"

मगर उसकी बात पर किसी ने भी टिप्पणी न की। और लाचार मुसीबतों की मार से थककर सभी सो गये और सातवें तबक पर बैठा बैठा मैं भी ऊँघने लगा। इतने में पंजाबी एजेन्ट के पास की खिड़की अपने आप 'खड़क' से खुल गई; साथ ही बर्छी की तरह हवा की ठण्डी और धारदार बाहु भीतर घुस गई। मेरे नीचे बैठा मुसलमान उस खिड़की के पास सामने बैठा था और उसके पास भी गर्म कपड़े कम थे। सो सभी रहे थे, जो जाग रहे थे सर्दी से। वह धीरे धीरे उठा और एजेन्ट की बेंच के पास जा खिड़की उसने होशियारी से बन्द कर दी, लेकिन पंजाबी एजेन्ट उसी बीच जाग उठा। ऐसी संदिग्ध दृष्टि उसने फेंकी खिड़की की तरफ झुके गरीब मुसलमान नौकर पर, मानो वह चलती गाड़ी का चोर हो। पंजाबी की आँखों से जैसे सहम कर वह पुनः अपनी सीट पर आ सिकुड़ा।

और सोने वाले समुदाय से बहुत ऊँचे रहने पर भी मेरा काम सोये बिना कहाँ चला। ट्रेन के आलस्य से अलसाकर कब मैं सो गया बैठे ही बैठे—जागते ही जागते—पता नहीं और पता नहीं, कब वह पेशावर एक्सप्रेस अपनी अचल निद्रा से जागी। जागने पर हमने सवेरा देखा दुर्दिन घनीभूत, ट्रेन जोश और जीवन से सरपट खड़खड़ा रही थी चारों तरफ़ चाञ्चल्य, मगर प्रकृति प्रकोप से परम व्यग्र!

याने खुदा ने चार घंटे ट्रेन रोकने की प्रार्थना पर उसे बारह घंटे जो रोक दिया तो फल में 'घोड़ा' 'गधा' बन गया। ११। बजे रात की जगह पूरे बारह घंटे बाद

११। बजे दिन हम गवालियर पहुँचे—सर्दी और हवा और झड़ और कीचड़—सर्वथा प्रतिकूल परिस्थिति—में ज्योतिषाचार्य पण्डित सूर्यनारायण व्यास के संकेत पर अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का प्रथम प्रचार करने !

१६४२

* * *

अब पछताये होत क्या . . .

श्रीयुत श्रीराम शर्मा, 'राम'

दिन भर की थकान से चूर, वृद्ध रामदीन ने आकर अपने घर का दरवाजा खोला, दिया जलाया और टूटी-सी खाट पर कटे धड़ की तरह गिर गया। उस बिछी हुई मैली और फटी दरी पर जो सिकुड़ी पड़ी थी, रामदीन ऐसे गिर गया, जैसे सचमुच ही वह कुछ शेष था, जो अशान्त और दुःखी था। उस घर में कई कोठे कोठरियाँ थीं, सभी बन्द पड़ी थीं। बस, एक था वह दालान-सा बड़ा कमरा जिसके कोनों में, आलों में, रामदीन की, साठ-पैंसठ वर्ष के रामदीन की, गृहस्थी सँजोई थी। वह सभी कुछ उसकी निधि थी। टूटे से पुराने जो दो-तीन सन्दूक खाली ही पड़े थे उनमें अब भी रामदीन का मोह था, उनसे अब भी ममता थी। वे उसके अतीत के साथी थे। उनमें रामदीन का इतिहास था, और एक कोने में घड़े-हंडियाँ, आले में रक्खी बड़ी-छोटी शीशियाँ, एल्यूमोनियम और पीतल के आठ-दस बर्तन —ये सभी मानो रामदीन के प्राण थे—उसके जीवन-साथी !

दिन भर में अब आया है रामदीन। सुबह छः बजे मिल में गया था, और शाम को सात बजे छूटकर, वह धीरे धीरे चलकर, कोई एक घंटे में घर तक आ पाया है। पेट में भूख थी। तभी उसने सामने आले में रक्खी सुबह की रोटियों की ओर देखा। चार बनाई थीं, दो सुबह ले गया था। आज कुछ साग-दाल भी नहीं बना पाया था। था ही नहीं कुछ ! तीन दिन ही की तो बात है, जब एक पैसे का अचार लाया था, एक आम की फाँक थी, आठ-दस मिर्च थे, जो कल शाम तक चले थे। और अभी चार दिन बाकी हैं, जब वह वेतन के आठ रुपये ले आयेगा, कुछ पिछला हिसाब है एक का, बीस साल पहले का, जिसके अब भी देने पड़ते हैं चार रुपये महीने। चार अपने पेट के लिए। रामदीन ने इसे रोज कई बार सोचा है, अब जाड़ा आ गया है, कपड़ा कोई नहीं, एक रजाई तो बनावे मोटी-सी। यही फिक्र है। मर तो जायगा नहीं, मरा नहीं जायगा।

तभी उस प्रकार चारपाई पर पड़ते ही रामदीन को दिन की बात याद आ गई। आज उसे मिस्त्री ने फटकार दिया था, लात मार दी थी। और वह क्यों न मारता लात ? वह रामदीन का कोई लगता तो नहीं। सबके अपने-अपने काम हैं। रामदीन बूढ़ा है तो, अशक्त है तो। वह क्या करे ? उसकी भी नौकरी है। मालिक की उसके काम पर भी निगाह है। इसी के तो पैसे देता है वह। कम दे तो, अधिक दे तो। और जब रामदीन का सफाई का काम है, मशीनों के आस-पास पड़ी रुई, कूड़ा-कचरा उठाना और साफ करना उसे बताया गया है तब फिर क्यों दिखाई दे कुछ ? कहो तो गिड़गिड़ाता है, रामदीन आँख दिखाता है। अपनी शक्तिहीनता का, अपनी वृद्धता का, बहाना करता है। भला यह भी दुनिया की बात है कोई। अशक्त हो तो घर बैठो। भाई। यहाँ आओगे और पैसे लोगे, तो काम करना ही पड़ेगा। जीवन है, जीवन। इसका नाम है युद्ध। यहाँ अन्त तक लड़ना है। जो सभी लड़ते हैं। तुम थोड़े ही हो अनोखे, पेट है, जो कराता है सब। करो तो, न करो तो !

किन्तु जो अपमान था, लांछना और प्रतारणा थी, मिस्त्री की ठोकर खाने की याद आने के साथ ही रामदीन वेदना से तड़प उठा। जो बुढ़ापे की और पैसे की दुर्बलता थी उसमें मानो आज ही समझा उसने कि जीवन नहीं है। अब रामदीन नहीं है, उसकी लाश है, जो नोची जा रही है, घसीटी जा रही है। पर रामदीन तो था, जो जीवित

था, जो अनुभव कर रहा था कि जैसे सुकड़ी जा रही है, आत्मा, टूटी जा रही है, उसे आरे की धार से चीर रहा है कोई। उसी की आँख के सामने, उसी के जीवन के सामने..... !

उसी क्षण रामदीन का हृदय एक भयंकर कोलाहल से भर गया। वह ऐसे फड़फड़ा उठा जैसे साँप था, जो शिथिल था, जो बँधा था और फन पर पैर रखकर मसल दिया गया था।

तब झटके के साथ रामदीन ने करवट ली, उसने आँख खोलकर सामने द्वार की ओर देखा अपने सूखे और सफेद बालों में उँगलियाँ देता हुआ बोला—यह भी देखना था, यह भी सहना था। अभी बाकी जो हैं साँसें, पूरी जो करनी हैं, करनी ही पड़ेंगी... !

तब एकाएक रामदीन अपने बीस वर्ष पीछे के इतिहास पर पहुँच गया। जब वह जवान था, भरा-पूरा कुनबा था, उसकी हरी-भरी दुनिया थी, तब कहाँ किसमें इतना ताव था ? किसी ने आँख दिखाई नहीं कि रामदीन का घूँसा बँधा था। घर में धन था, वैभव था। बाल-बच्चे थे, भाई-बन्धु थे। अपना घर का कारबार था। तब ऐसा कहाँ था रामदीन। बाजार में छाती तानकर निकलता था। समाज में उसकी साख थी। तब वह कितना मदान्ध था, कैसी उछालें भर रहा था ! वह सामने ही देखता था, अपना ही देखता था।

यहीं एकाएक चौंककर रामदीन ने आँख खोल दी। उसने बाहर के तारों-भरे आकाश की ओर देखा और फिर झटके से अपनी आँखों पर दोनों हाथ रखता हुआ बोला—अरे रामदीन, आज सोचता है तू, आज देखता है तू... !

आज उसने देखा अपने जीवन का वह पृष्ठ जिसे देखकर उस क्षण वह डर गया और काँप गया !

× ×

रामदीन का एक असामी था। वह भी कभी धनवान् था अब निर्धन हो गया था। रामदीन ने उसपर नालिश की और इकतरफा डिगरी लेकर वह उस दिन असामी के द्वार पर गया जब उसके घर तीन दिन से भोजन नहीं बना था। उसका परिवार भूखा था। उसकी स्त्री और बच्चे मृत्यु की विकरालता की कल्पना में निरत थे। ऐसे में उनके मकान को रामदीन ने अपने हाथ में ले लिया। उस निर्धन, उस अपंग परिवार को उसकी ओर से कह दिया गया कि एक सप्ताह में खाली हो जाय मकान। किसमें थी ताब कि रामदीन की आज्ञा न मानी जाती, आज्ञा का पालन हुआ। उसके बाद सन्तोष और सुख की साँस भरते हुए रामदीन ने सुना कि उस असामी के परिवार के सब, एक-एक करके, अपनी यात्रा पर चले गये हैं। केवल उसकी मा, उसकी लड़की जो युवा और अविवाहित है बच रही हैं।

उसके बाद रामदीन के एक परिचित ने एक दिन उसके पास आकर कहा—तुमने इन मा-बेटी पर भी रहम नहीं किया। वे दीन और मोहताज हैं !

रामदीन ने सुना और मुस्करा दिया। उसने अपने उस मित्र की ओर देखकर कहा—भाई जी, यह दुनिया है। आदमी पहले अपना घर देखता है। सभी के अपने स्वार्थ हैं !

"तुम समर्थ हो, लाला रामदीन। तुम पर ईश्वर की कृपा है। चाहो तो उन्हें कुछ दे सकते हो।"

"न, न, ऐसा कुछ भी रामदीन के पास नहीं है। वह कुछ भी नहीं कर पायगा।"

"अच्छा, तुम जानो भाई ! मैंने आज ही सुना है ? मा भी रोती है, बेटी भी रोती है, रात-दिन। उन्हें खाने के लिए आटा कल ही तो दिया है, पर मैं समर्थ कहाँ हूँ ? अपनी ही गुजर मुश्किल है। तुमने उनका मकान दबा लिया है। सुना है, मकानदार ने उनसे कहा है कि जो दो तीन मास का किराया चढ़ा है उसे दे दो और मकान खाली कर दो। लाला रामदीन, इस दुनिया के दुःख-दर्द की बात मनुष्य ही सोचता है। भाई मेरे, उनका जो मकान है वह खाली ही तो पड़ा है। उसी में उन्हें ठौर दो, एक ओर पड़ी रहेंगी। तुम्हारे तो मजदूरनियाँ लगी हैं, वे भी तुम्हारी मजदूरी कर दिया करेंगी; इस तरह अपनी जिन्दगी के दुःखभरे दिन काट लेंगी।

यह सुनकर रामदीन ने अवहेलना और कड़वाहट के साथ मुस्करा दिया। उसने कहा—आप मेरी जगह होते तो रामदीन की बात का मर्म समझते। मैं पत्थर नहीं हूँ, मैं जानवर नहीं हूँ। जिस साँप को दूर कर पाया है

अब कहते हैं कि फिर करूँ उसका आह्वान। न, ऐसी कल्पना भी नहीं कर पायेगा, रामदीन।

उन्होंने फिर कहा—रामदीन जी, जाने किस प्रेरणा से मैं कहता ही जा रहा हूँ। आप न जाने किस दृष्टि से दुनिया का रूप देखते हैं। वे ऐसी कहाँ हैं? यहाँ कोई भी साँप नहीं है। सभी भाई-भाई हैं। सभी आदमी हैं। सभी में ममता और मोह है। कहें तो एक और बात कहूँ। शायद आप मान लें। मान ही लेनी चाहिए—

रामदीन ने जिज्ञासा से पूछा—क्या? क्या?

"आपका लड़का सयाना हो गया है। सुना है, विवाह के लिए लोग आने लगे हैं। मैं कहता हूँ, यह रामधन की लड़की आपकी देखी-सुनी है, इसे ही अपनाइए। आपकी जाति-बिरादरी है।"

यह सुनते ही, जैसे रामदीन के घूँसा लगा। तुरन्त ही वह मुँह पर घनी-सी उपेक्षा लाकर बोला—आप क्या कह रहे हैं जी? अब समझा, आप इसलिए आये हैं। रामदीन चोट्टा या बदमाश नहीं है। आप भी तो बाल-बच्चेदार हैं, बाबू जी। बताइए, आपसे कोई कहे, तो यह रिश्ता स्वीकार कर लेंगे?

"हाँ, हाँ, रामदीन जी। मैं क्या, कोई भी स्वीकार कर लेगा। आप देखकर भी नहीं देख पाते। क्या कहूँ! आप दहेज चाहते हैं, जो आपको कहीं मिल ही जायगा, पर ऐसी लड़की भी मिल जायगी, यह शायद आप भी न कह पायेंगे, जो गंगा-सी पवित्र और निर्मल है।"

रामदीन में जो क्रोध आ गया था वह अभी नहीं दबा था। बाबू ने उसे देख लिया था, पर उन्होंने जैसे बात का अन्त करना चाहा था, तभी रामदीन की ओर देखकर कहा—अच्छा रामदीन जी, यही मुझे कहना था, यही कहने आया था। पर आप नहीं माने। मेरी तो वे जाति की नहीं, बिरादरी की नहीं। बेचारी घर आती-जाती हैं, पड़ोसिनें हैं, इसी लिए तुम्हारे पास आया। पर तुम्हारी ऊँची दूकान है, ऊँचे मोल-तोल हैं। तुम अपनी ही ओर देखते हो, भाई, मेरी कहाँ ऐसी औकात? एक मजदूर ही तो हूँ। शायद इसी लिए इन मा-बेटियों के दुःख का मर्म पा लिया। और तुम किसी की आह देख ही नहीं पाते, समझते ही नहीं। यह कहते बाबू खड़े हो गये।

रामदीन ने न जाने कैसी तेज दृष्टि से उनकी ओर देखा। वे जूते पहनते हुए मुस्कराकर बोले—तुम अब भी क्रोध में हो, रामदीन जी। जवानी के दिन हैं, जिनमें आदमी प्रायः अन्धा हो जाता है। वह दूर तक नहीं देख पाता। तुम्हारा क्या दोष! पर सोच तो लो, हम-तुम भी बचपन के खेल खेले हैं, आज उसी भरोसे आया था। लेकिन समझा, आदमी नित्य ही बदलता रहता है।

यह कहते-कहते उन्होंने द्वार की ओर देखा और बोले—रामदीन जी, तुम्हारा समय बहुत लिया। अच्छा, राम-राम।

रामदीन ने बड़े क्षीण और आतुर स्वर में कहा—राम-राम।

उनके जाते ही रामदीन जैसे बैठा था, वैसे ही खोया-खोया-सा जहाँ का तहाँ बैठा रह गया। वह अशान्त था, वह अधीर था।

दिनों की तो बात है। जैसे आते हैं, वैसे चले जाते हैं। गरम तो गरम, सरद तो सरद। रामदीन जिधर देखता था, ऊँचाई पर ही देखता। शहर के एक धनिक के यहाँ उसके लड़के का सम्बन्ध जुड़ गया। पैसेवाले से पैसेवाला भिड़ा था, खूब ही दिया, धूम के साथ विवाह हो गया और बहू घर आगई।

तब कितना प्रसन्न और सुखी था, रामदीन!

परन्तु विवाह के कुछ दिन बाद ही रामदीन के लड़के को हैजा हो गया। वही एक लड़का था, जिसपर रामदीन की सभी आशायें केन्द्रीभूत थीं। दिल खोलकर पैसा बहाया गया, अच्छे से अच्छे डाक्टर के हाथ में रोगी की बागडोर दी गई। लड़के को देखने मुहल्ले के अमीर भी आते, गरीब भी आते। और लड़का जैसे क्षण-क्षण में मृत्यु की ओर बढ़ता जा रहा था। रामदीन क्या करे!

अपनी उसी विक्षिप्त-सी दशा में रामदीन ने देखा कि जो स्त्री-पुरुष उसके लड़के को देखने आये हैं, उनमें रामधन की लड़की भी आई है। हाँ, कान्ता ही तो है। तभी रामदीन ने मन में कहा—इन्हीं मा-बेटी का शाप पाया है मैंने!

रामदीन ने न जाने कैसी दृष्टि से लड़की की ओर देखा। और मानो जो शाप की बात उसके मन में उग आई थी उसी ने उसे एकबारगी उद्वेलित कर दिया और पागल-सा, खोया-खोया-सा होकर, इस प्रकार सब ओर को देखने लगा, जैसे सचमुच ही, वह ज्ञान-शून्य और अर्थ-शून्य हो गया था।

उसी क्षण उस लड़की कान्ता ने रामदीन के पास आकर कहा—चाचा जी, मा ने भेजा है, पूछा है भैया की तबीअत कैसी है। हम लोगों के योग्य जो काम हो, बतायें। ईश्वर जुगल भैया को अच्छा करेंगे, चाचा जी!

यह सुनकर रामदीन कुछ कहना चाहकर भी न कह पाया, मानो जो उसमें व्याप्त था, वह इतना गहरा और विशाल था कि उसे कुछ सुनने ही न दिया, कुछ कहने ही न दिया। वह उद्भ्रान्त हो गया।

रामदीन के इस रूप को देखकर कान्ता दया और ममता से भर गई। वह जानती थी कि जिस जुगल भैया के साथ वह खेली है, आज वही जुगल जा रहा है और उसी के लिए रामदीन चाचा दुःखी और उदास हैं। उस क्षण वह रामदीन के उस रूप को भूल गई, जिसने उन्हें इस अवस्था को पहुँचा दिया है। किन्तु वह उसी अपनत्व की भावना से भरी, जीवन की अदृश्य घाटियों की कल्पना में डूबी अपने घर की ओर चल पड़ी।

कान्ता घर जाकर रामदीन के घर का दृश्य बता पाई थी कि उसकी एक समवयस्का लड़की ने आकर कहा—अरी कान्ता, तू भी ऐसी नासमझ है जो उसके घर गई। सुना, अभी तेरे पीछे रामदीन ने, क्या कहा है? मा ने बेटी को भेजा है कि जाकर दिखा आ अपनी सहानुभूति उसने कहा—आई थी जले पर नमक छिड़कने। सो क्यों न छिड़केगी। अब बन आई है इनकी!

यह सुनकर कान्ता की मा ने कहा—मन ने नहीं माना, बेटी। मेरी गोद में यह जुगल भी खेला है। जब मेरे सीधे दिन थे, मेरे बच्चों के साथ, यह भी खाता, बैठता और अपने घर रात में जाता था। जुगल मेरे बिगड़े दिनों में भी कई बार आ-जा गया है, बेटी। वह बुरे बाप के अच्छा बेटा हुआ है। आदमी का पता थोड़े ही लगता है। बिटिया, ऊपर से कुछ, अन्दर से कुछ। कौन जानता था कि राम-

दीन ऐसा पत्थर का और जमाने भर की झूठों से भरा निकल जायगा! पैसा ही कराता है सब! इसी ने आदमी को राक्षस बना दिया है।

उसके बाद ही वह लड़की चली गई। कान्ता की मा ने फिर कहा—उसने यही कहना सीखा है। उसके पास यही सब तो है पर अब वह दुःखी है!

कान्ता ने कहा—मुझसे तो कुछ भी नहीं कहा। सोचा होगा, हमीं उनके शत्रु हैं।

यह सुनकर मा ने अपनी कमर को पीछे दीवार से लगा दिया। उसने दीनता-भरी आँखों से कान्ता की ओर देखकर कहा—सब समझ-बूझ लो बेटी। रामदीन चोरी और ठगी से धनवान् हुआ है। तेरे पिता जी ने सभी कुछ देखा, सभी कुछ सहन किया। बेटी, वह सब कैसे भूल सकूँगी? उन्होंने किसी के साथ भी दगा नहीं की, ठगी नहीं की और भूख और दरिद्रता की गोद में समा गये। मैं भी चाहती तो तुझे लेकर किसी कुएँ में डूब मरती। पर मैं ऐसा एक दिन भी नहीं कर पाऊँगी बेटी—नहीं करूँगी।

कान्ता ने देखा, मा की आँखें भर आईं तब उसकी आँखों में भी आँसू आगये।

वह पूर्ववत् कहती गई—जिस मा ने सोलह साल तुझे पाला है जिसे छाती से लगाकर सींचा है, अब तुझी को देखकर, मर जाना चाहती है। बस हाँ, एक यही तो साध है, यही तो चिन्ता है कि मेरी आँखों के सामने ही तेरे हाथ पीले हो जायें। पर तेरी मा कहाँ जाय, किससे जाकर कहे। न अपना कोई मीत है, न सगा है। और मा का जो हाल है सो तू देखती तो है, न जाने कब प्राण उखड़ जायें।

यह सुनने के साथ ही कान्ता ने मा की गोद में सिर रख दिया और जोर से फफककर रो पड़ी।

अब तक मा की आँखों के आँसू सूख गये थे। उसने रोती हुई कान्ता के सिर पर हाथ रक्खा और वह उमड़ते और ममता-भरे मन से बेटी के सिर को सुहलाने लगी।

तभी कान्ता ने अपनी रोती लाल आँखों से मा की ओर देखकर भर्राये और करुण स्वर में कहा—मा, परमात्मा

निर्धन की भी सुनता है। हम उसे ही अर्पित हैं। वही है, हमारी नैया का खेवैया !

यह सुनकर मा ने न जाने कैसी तृषित और उदास दृष्टि से ऊपर शून्य आकाश की ओर देखा, जहाँ आज तक उसने कुछ न देख पाया था।

उसी क्षण बाहर से एक लड़के ने आकर कहा—कान्ता की मा, रामदीन का लड़का मर गया।

मा ने हठात् नीचे को देखकर कहा—मर गया ! हाय ! हाय !......

वह हतबुद्धि-सी जहाँ बैठी थी, वैसे ही बैठी रही। तत्क्षण ही, उसे लगा, जैसे एक ऐसा दृश्य उसकी आँखों के आगे आगया है, जो अचरज भरा है, जो रहस्य-भरा है।

× × ×

पर रामदीन के ऊपर जो आपत्ति आई थी, जो दुर्दिन की अपवशता उसके अन्दर व्याप गई थी, मानो उसका कहीं भी छोर नहीं था। उसका जो बना-बनाया जीवन बिगड़ गया था, उसने उसके पितृ हृदय को खण्ड-खण्ड कर दिया। वह ऐसा उद्भ्रान्त बन गया था, जिसमें उसका विवेकशील जीवन पल मारते ढह गया। जो उसके पराये थे उन्होंने आखिर कहा ही—यह भी सोचकर नहीं चला था; किया सो पाया।

और इस प्रकार की बातें दब थोड़े ही जाती हैं। वे रुख पाते ही फुर्र से उड़तीं, रामदीन के कानों के पास से टकराकर निकल जातीं। तब अपने लड़के के शोक की बात को रामदीन भूल जाता। वह उन कड़ुए और जहरीले बोलों को पकड़ता, उन्हें अपने पेट के नीचे उतारता और ऐसे स्थान पर उन्हें एकत्र करता, जहाँ किसी की पहुँच ही नहीं थी। जहाँ सब ओर से छूटकर केवल रामदीन था और ईर्ष्यालु तथा प्रतिकार की आग में भुनता हुआ उसका मन। समय बढ़ता चला। पुत्र-शोक भी आगे-पीछे होता चला। आखिर उसे जीवन तो चलाना था ही, वह रुका नहीं, आगे ही बढ़ता चला।

तभी एक दिन अचानक रामदीन ने सुना, रामधन की लड़की का विवाह हो रहा है। लड़का मिल गया था और सो भी अच्छे घर का। जो प्रतिकार की भावनायें रामदीन के हृदय में दबी थीं, पल मारते ही उभड़ आईं। काँपते हृदय से रामदीन ने मुट्ठी भींच ली। उसकी देह का रोयाँ-रोयाँ खड़ा हो गया। उसकी आँखों के सामने घना-सा अन्धकार आने के साथ ही सिर में चक्कर आ गया। वह मूर्त्ति-सा सब ओर से छूटकर निरा शून्य और जड़ बन गया। कुछ कहना चाहता था, पर नहीं कह सका। कल बारात आयेगी। रामधन की लड़की अब बड़ी हो गई है, जो कभी गोद में खेली थी, चाचा-चाचा कहती मेरी ओर दौड़ आती थी, उसी कान्ता का कल ब्याह होगा और वह वहू बनकर दूसरे के घर चली जायगी।

तभी उसने खुले स्वर में कहा—और उसी की मा के शाप से मेरा जुगल मरा है। इन्हीं के कोसने से मेरे घर में विधवा बहू बैठी है !

यह कहते रामदीन डोल गया, उसका मन एकबारगी भारी हो गया, उसकी नसें फूल गईं, उनमें तेजी से रक्त प्रवाहित हो उठा। उसी समय मुहल्ले का एक आदमी सामने से निकलकर जा रहा था। वह रामदीन के पास उठने-बैठनेवाला था। उसे देखते ही, रामदीन ने आवाज दी—अरे कल्लू ! ओ कल्लूमल !

कल्लूमल ने लौटकर देखा और लौट आया। वह रामदीन के पास आकर बैठ गया।

रामदीन ने उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा—कल्लू, रामधन की लड़की का विवाह है। तुमने सुना ?

"हाँ, सुना तो। घर भी अच्छा मिला है। चलो, लड़की तो सुख पायेगी।"

"मूर्खता की बात मत करो, कल्लू ! रामदीन की ओर देखो। मुँह दिखाना भी भारी हो गया है !"

कल्लू रामदीन का आदमी था। पर वह जानता था कि रामदीन ने क्या ठीक कहा है। उसने कहा—तो ?

रामदीन ने उसके कान के पास मुँह ले जाकर कुछ कहा और फिर उसकी ओर देखकर बोला—समझे कुछ ? रुपये लेना अपने।

कल्लू ने कहा—ऐसा क्यों करते हो ?

रामदीन ने तेज होकर कहा—कल्लू, गदहे ही रहोगे तुम ? यही करना है अब ! मैं अब अन्धा ही बनूँगा। लड़का मर गया मेरा। व्यापार घट रहा है रात-दिन।

मुझे भी एक दिन मरना है। ऐसे ही मरूँ, ऐसे ही जिऊँ..... !

कल्लू उठ खड़ा हुआ। रामदीन ने उसकी ओर देखकर पूछा—बताया नहीं कल्लू ?

कल्लू ने बाहर की ओर देखते हुए कहा—अच्छा, अच्छा।

और कल्लू से कहने का, उसके स्वीकार करने का जो परिणाम होना था, वह क्या चूक जाता ? कल्लू ने चाहे सीधा न कहा हो पर दूसरों से उसने लड़के के पिता और नातेदारों के कानों में कहलवा दिया कि रामधन की स्त्री का क्या भरोसा है, जिसका न रहने का ठीक है, न खाने का, जो लोगों की कृपा पर चलती आई है :। कहीं ऐसी जगह नाता किया जाता है। विवाह की बात है भाई, फिर भी सोच लो, फिर भी समझ लो।

इस प्रकार जो बात उड़ाई गई वह एक की तो नहीं रह गई। वह अनेक में बँट चली थी। लड़के के पिता में जो सहानुभूति थी, जो आदर्श की भावना थी, वह पल मारते ही फुर्र हो गई। पर कल ही विवाह है। जो बराती न्योत दिये हैं, जो नाते-रिश्तेदार आ गये हैं, उनका क्या हो ? न भाई, नहीं। इस विवाह में ऐसा वितण्डा है। किस-किसको मनाया जायगा। एक तो नहीं है—लड़का है, उसकी मा है, भाई-बन्धु हैं।

बात रामधन की स्त्री के पास भी पहुँच गई। ले-देकर उसने अपनी लाडली का विवाह रचा था। बस यही एक साध जीवन की थी, जो अब पुर जायगी। फिर वह निश्चित हो जायगी। मरे तो, जिये तो। पर जब उसने सुना, हाय करके रह गई। वह एकबारगी इस प्रहार से तिलमिला उठी। विपत्तियाँ आई थीं, पति और बच्चों का मरना देखा था, पर उसका जो सम्मान था, वह एकबारगी ढह गया—चूर-चूर हो गया। आज तक उसने अपनी, अपनी लड़की की और जिस स्वर्गीय पति की वह अब तक पत्नी कहलाती आई थी, उसके मान को उसने प्राणों से अधिक सँजोया था, उसपर आँच न आने दी थी। ऋण ही तो था, जो सभी पर चलता है, दुनिया का एक व्यापार है। और वह तो बेईमानी से पछाड़ी गई है,उसके जीवन का सुख ठगकर चुराया गया है।

उसी अवस्था में, जब न वह रोई थी, न किसी से बोली थी, इस प्रकार पछाड़ खाकर गिर पड़ी, जैसे सचमुच ही, आज ही उसने समझा, आज ही देखा उसने कि वह दीन है, वह अपाहिज है।

घर में पास-पड़ोस की स्त्रियाँ आई थीं उन्होंने प्रयत्न किया कि कान्ता की मा होश में आये।

उस क्षण एक अजीब-सा दृश्य जो करुणा से भरा था, उस घर में देखने में आया। कान्ता एक ओर बैठी रो रही थी। आज तक उसने यह नहीं समझा था कि मा की और पिता की अप्रतिष्ठा का एक कारण वह भी है।

उसके अन्दर ही किसी ने चीखकर कहा—अरी कान्ता, हाय री हतभागिनी ! हाय री पापिनी !

किन्तु उसी समय अपने घर पर बैठा हुआ रामदीन मानो एकाएक ही पागल-सा हो गया था। उसने जो तीर छोड़ा था वह निशाने पर ठीक जा लगा था, यह जानकर वह हर्ष से आत्म-विभोर हो गया था। किन्तु क्षण भर बाद ही, उसकी मुट्ठियाँ भिंच गई थीं, दृष्टि तीव्र होकर चारों ओर घूर-घूरकर देखने लगी थी—उसके जुगल की—जवान और विवाहित जुगल की अर्थी लोगों के कन्धों पर चल पड़ी थी, और जो निरन्तर, क्षण-क्षण में उससे दूर होती जा रही थी; उसके बाद ही, लो एक और अर्थी आई, रामधन की स्त्री की। फिर आ गई दूसरी, कान्ता की, रामधन की लड़की की...

तभी जोर से चीखकर रामदीन ने कहा—कान्ता की ! अरे उस कन्तो बिटिया की ! पगली कहीं की, देखा कैसे आ जाती थी, दौड़ती हुई, फुदकती हुई, मेरी गोद में !

और आज मर जायगी वही।...

'रामदीन ! रामदीन !' वह जोर से चिल्लाया। उसने बड़ी तीव्रता से जाकर आलमारी से अपनी वही उठा ली और एक पन्ने को खोलकर देखा, अब भी हैं रामधन पर दो हजार।

'दो हजार—रामदीन बड़बड़ाया। झूठा कहीं का ! लम्पट कहीं का ! अरे अब तो भर पेट। वह भाभी भी जा रही है, वह बेटी भी जा रही है।'

तब एकाएक ही रामदीन की आँखों में अतीत का

लेखा आगया। जो रामधन की स्त्री प्रेम से देवर जी कहती हुई रामदीन के सामने मिठाई की तश्तरी रखती थी, गिलास में शीतल और ठंडा पानी रखती थी।

पर रामदीन ने इसे तत्क्षण ही छोड़ दिया। उसने बही के उस पन्ने को खींच लिया और फाड़ दिया। वह खड़ा हो गया। जैसे नहीं समझ रहा था कि क्या करे, कैसे करे। उससे जो कहा गया था, जिसे आज तक नहीं सुना, अब मानो नहीं कर पायेगा। अब उसकी नहीं चलेगी। अब उसकी बारी नहीं है। और अभी मर जायँगी मा-बेटी। यों ही मर जायँगी। रामदीन के चलाये तीर से मर जायँगी।...

रामदीन में फिर एक गुबार आया, फिर उसकी आँखों के सामने, आत्मा की, उसके परमात्मा की चीख कानों में झंकृत हो उठी—अरे, अब तो सोच, रामदीन! जो किया सो ठीक!...

विक्षिप्त-सा रामदीन दोनों मुट्ठियों को भींचे, जरा भी स्थिर नहीं था। आज वह समझ ही नहीं पा रहा था कि किस शक्ति का वेग है, जो बहाये जा रहा है उसे। और वह लड़ रहा था, जो उसका दृष्टि-पथ था वह अभी ओझल ही नहीं हुआ था।

तभी एक आदमी ने द्वार पर आकर कहा—तुमने भी सुना, लाला रामदीन, रामधन की लड़की का जो कल विवाह था वह रद्द हो गया। किसी ने भर दिये लड़केवाले के कान। जब सुना लड़की की मा ने, पछाड़ खाकर गिर गई, तभी से वह बेहोश है। शायद मर ही जाय। हाय! हाय! कैसा बुरा.....

रामदीन जोर से चिल्लाया—कान्ता की मा! उससे कुछ नहीं, उससे कुछ नहीं। बात रामधन से थी। लड़की मेरी है।...

वह दौड़कर मकान के एक कोठे में घुस गया। उसने एक जगह से पत्थर हटाया और जो हँडिया वहाँ थी, उसने उसे उठा लिया और उसमें की चार हजार रुपयों की राशि को अपने पल्ले में उँडेलकर बोला—अब नहीं करेगा रामदीन, अब नहीं मरने देगा, कान्ता को, उसकी मा को।...

वह उन रुपयों को धोती के पल्ले में पकड़े तेजी से मकान के बाहर हो गया। वह ऐसे जा रहा था, जैसे उसका लक्ष्य अभेद्य बनकर उसे खींचे लिये जा रहा था, बरबस ही, रामदीन उसके पीछे भाग चला था, राह में लोगों ने देखा कि आज कैसा बना जा रहा है, रामदीन। न देह पर कुरता है, न पैर में जूता है, जैसे पागल हो गया है!...

सीधा ही, वह रामधन की बहू के घर पहुँच गया। वह रुका नहीं, वह अन्दर ही चला गया। वहीं सामने देखा उसने, मुहल्ले के पुरुष और स्त्रियाँ कान्ता की मा की चारपाई के पास खड़े हैं। रामदीन ने जाते ही करुणा के साथ पुकारा—कान्ता, कान्ता बेटी!...

और वह उस भीड़ में घुस गया। वह कान्ता की मा की चारपाई के पास जा पहुँचा। वहीं खड़ी हुई कान्ता ने कहा—चाचा! अरे.....

किन्तु जैसे रामदीन ने कुछ भी नहीं सुना था। उसने उस रुग्ण कान्ता की मा की आँखों की ओर देखा, जो आज ज्योतिहीन और कान्तिहीन हो गई थीं। निरन्तर की विपत्ति, नित्य के रोने ने जिन्हें निर्जीव और अशक्त कर दिया था।

अब सभी रामदीन की ओर देखने लगे थे। जो चौंकता-सा, जो खोया-खोया-सा, आज ही दिखाई दिया था, मानो यह नहीं है रामदीन कोई और है।

रामदीन कुछ और आगे बढ़ा और इस प्रकार वह कान्ता की मा के पैरों पर गिर पड़ा, जैसे एकाएक ही, किसी ने धकेल दिया हो। वह रो पड़ा। उसने उन्हीं पैरों को पकड़ लिया और जोर से वह उन्हीं पैरों में सिर को देता हुआ बोला—भाभी! तुम भूल जाओ रामदीन को, जो राक्षस था, जो नर-पशु था। वह मर गया अब! कान्ता मेरी बेटी है, मुझे ही इसका विवाह करना है!...

एक ओर से किसी ने कहा—'अरे, उतारो चारपाई से, अब कहाँ रक्खी है कान्ता की मा! रामदीन की भाभी.....!'

यह सुनना था कि रामदीन जाने कैसी गम्भीरता के साथ, मौन और अवाक्-सा ऊपर उठ गया। उसने दोनों